मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 70 ● वर्ष 8, अंक 5 ● जुलाई 2018 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

नोएडा में सैम्संग के नये कारख़ाने से मिलने वाले रोज़गार का सच 7

भारतीय मज़दूर वर्ग की पहली राजनीतिक हड़ताल 15

मुनाफ़े के जाल में फँसे फ़ार्मा उद्योग का भस्मासुर 16

बढ़ते असन्तोष से बौखलाये मोदी सरकार और संघ परिवार

विकास की गर्जना ठण्डी पड़ी और साम्प्रदायिक विद्वेष और अन्धराष्ट्रवाद का उन्मादी शोरगुल फैलाने की मुहिम शुरू

फ़ासीवाद को हराने के लिए लम्बी और निर्णायक लड़ाई की तैयारी करनी होगी

अब ये साफ़ हो गया है कि 2019 के चुनाव तक मोदी सरकार और संघ परिवार देशभर में साम्प्रदायिक तनाव बढ़ाने, धर्म और जाति के आधार पर ध्रुवीकरण को तेज़ करने और हर तरह के विरोधियों को कुचलने के लिए किसी भी हद तक जाने से गुरेज़ नहीं करेंगे। अगले आम चुनाव में अब एक वर्ष से भी कम समय बचा है और जनता के बढ़ते असन्तोष से भारतीय जनता पार्टी और उसके भगवा गिरोह की नींद हराम होती जा रही है। कई उपचुनावों और कर्नाटक में हार तथा जगह-जगह सरकार-विरोधी आन्दोलनों से उन्हें जनता के ग़ुस्से का अन्दाज़ा बख़ूबी हो रहा है। पिछले दिनों राजस्थान में मोदी की रैली में काले झण्डे दिखाने की आंशका से घबराये हुए प्रशासन ने रैली में आये लोगों के काले कपड़े, दुपट्टे, पगड़ी, टोपी तक उतरवा डाली, फिर भी रैली में मोदी की हाय-हाय और "मोदी वापस जाओ" के नारे जमकर लगे।

यही वजह है कि समूचा भगवा गिरोह अगले साल मतदान की फसल काटने के लिए ख़ून की बारिश करवाने में एड़ी चोटी का ज़ोर लगा रहा है। मोदी सरकार और संघ परिवार के किसी भी विरोध को "देशद्रोह" और "हिन्दू धर्म पर हमला" बताकर उसे बर्बर हमले और दमन का निशाना बनाया जा रहा है। इसकी सबसे घृणित मिसाल पिछले दिनों झारखण्ड में आर्यसमाजी सन्त और मानवाधिकार कार्यकर्ता स्वामी अग्निवेश पर भारतीय जनता युवा मोर्चा कार्यकर्ताओं के हमले के रूप में देखने में आयी। **अग्निवेश की राजनीति से बहुत से लोगों को असहमति हो सकती है लेकिन एक 78 वर्ष के बुज़ुर्ग को जिस तरह गन्दी गालियाँ दी गयीं, सड़क पर गिराकर लात-घूँसों से बुरी तरह पीटा गया वह इन फ़ासिस्टों के असली चरित्र को दिखाता है। गाँधी की हत्या से लेकर दाभोलकर, पानसारे, कलबुर्गी जैसे बुज़ुर्गों और गौरी लंकेश जैसी महिला की हत्या सिर्फ़ वैचारिक विरोध के कारण करने वाले संघियों की "भारतीय संस्कृति" यही है!**

पिछले चार वर्षों के दौरान देशभर में नफ़रत की आँधी चलाकर और जुनूनी भीड़ को उकसाकर कमज़ोरों की हत्याएँ करवाने का जो घिनौना अभियान संघियों ने चलाया है उसके भयावह नतीजे अब जगह-जगह दिखायी दे रहे हैं। व्हाट्सऐप पर फैलाये गये झूठ और अफ़वाहों, अनजान शत्रु के ख़िलाफ़ गुस्से से भरे बेरोज़गार व हताश नौजवानों की फ़ौज, संघी संगठनों की साज़िशों और सत्ता के खुले संरक्षण ने मिलकर हर राज्य में ऐसी हिंसक और तर्कहीन भीड़ तैयार की है जो ज़रा से उकसावे पर किसी की भी जान ले सकती है। असम में दो स्थानीय संगीतकारों, कर्नाटक में एक इंजीनियर और महाराष्ट्र में पाँच लोगों को बच्चा चोरी के झूठे शक़ में भीड़ ने पीट-पीटकर मार डाला। उत्तर प्रदेश के हापुड़ में एक मुस्लिम किसान को भीड़ ने बर्बरता से मार दिया तो उत्तराखण्ड में एक युवक को भीड़ से बचाने वाले पुलिस अधिकारी की ही जान के लाले पड़ गये। वेबपोर्टल 'द क्विंट' की रिपोर्ट के अनुसार **2015 से अब**

(पेज 9 पर जारी)

सम्पादक मण्डल

बदहाली के सागर में लुटेरों की ख़ुशहाली के जगमगाते टापू

यही है देश के विकास की असली तस्वीर

– सत्यप्रकाश

प्रधानमन्त्री मोदी सहित केन्द्र सरकार के तमाम मन्त्री और भोंपू मीडिया पूरे जोशोख़रोश के साथ डंका बजा रहे हैं कि देश के विकास का रथ विकास के राजमार्ग पर कुलाँचे भर रहा है। सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की वृद्धि दर बढ़ती हुई दिखाने के लिए फ़र्ज़ी आँकड़ों की नुमाइश हो रही है। "अच्छे दिनों" के इन्तज़ार में रोज़ नयी तक़लीफ़ें सहते-सहते देश की आम मेहनतकश जनता के सब्र का प्याला छलकने लगा है, मगर जनता की गाढ़ी कमाई से बड़े पूँजीपतियों को तरह-तरह के तोहफ़े लुटाये जा रहे हैं। कहीं से कोई विरोध न हो, इसलिए जनता को दबाने, कुचलने, उसका मुँह बन्द करने, मूल मुद्दों से बहकाने और आपस में बाँटने के तमाम हथकण्डे अपनाये जा रहे हैं। यही वजह है कि कॉरपोरेट मीडिया के चारण-भाट बदलते भारत की सपनीली छवियाँ परोसने के लिए धमाल मचाये हुए हैं। देश के विकास के इस रंगारंग जलसे में मध्यवर्ग का ऊपरी मलाईमार तबक़ा भी "विकास" की नशीली धुन पर थिरक-मचल रहा है।

लेकिन देश के विकास का डंका बजाने वाले इस शाही जुलूस में देश का मेहनतकश अवाम कहाँ है? उसे इस जुलूस में शामिल देखने की हसरत शायद इक्कीसवीं सदी की सबसे मासूम हसरत होगी। देश की करोड़ों-करोड़ मेहनतकश जनता तो विकास के इन राजमार्गों से अलग-थलग महानगरों की अँधेरी सीलनभरी झुग्गियों में, क़स्बों-गाँवों की ऊबड़-खाबड़ सड़कों-खड़ंजों-चकरोडों के किनारे लहूलुहान पड़ी हुई है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यही तो पूँजीवादी विकास का स्वाभाविक विरोधाभास है। विकास की चमकती तस्वीर का दूसरा पहलू है। पूँजीवादी समाज में ख़ुशहाली के जगमगाते टापू तबाही-बदहाली के महासागरों के बीच ही खड़े होते हैं।

सरकार और उसके भाड़े के अर्थशास्त्रियों द्वारा पेश किये जा रहे आँकड़ों की ही नज़र से अगर कोई देश के विकास की तस्वीर देखने पर आमादा हो तो उसे तस्वीर का यह दूसरा स्याह पहलू नज़र नहीं आयेगा। उसे तो बस यही नज़र आयेगा कि नोएडा में सैमसंग की विशाल मोबाइल फ़ैक्टरी खुल गयी है। चौड़े एक्सप्रेस-वे बन रहे हैं जिन पर महँगी कारें फ़र्राटा भर रही हैं। पिछले वर्ष के दौरान देश में 17 नये "खरबपति" और पैदा हुए जिससे भारत में खरबपतियों की संख्या शतक पूरा कर 101 तक पहुँच गयी। देश की शासक पार्टी का 1100 करोड़ रुपये का हेडक्वाटर आनन-फ़ानन में बनकर तैयार हो गया है और देश की सबसे पुरानी शासक पार्टी का ऐसा ही भव्य मुख़यालय तेज़ी से बनकर तैयार हो रहा है। लेकिन विकास के आँकड़ों की

(पेज 8 पर जारी)

आपस की बात

भारत में बढ़ती नशाखोरी का आलम

भारत एक युवाओं का देश है। कहा जा रहा है कि युवाओं के दम पर 2020 में दुनिया की "आर्थिक महाशक्ति" बना जा सकता है। लेकिन जिस युवा पीढ़ी के बल को देखकर अन्दाज़ा लगाया जा रहा है। वह ठीक नहीं है। क्योंकि वह युवा आज बेरोज़गारी के चलते आत्महत्या करने को विवश है, वह युवा आज डिग्रियाँ लेकर सड़कों पर भटकने के लिए मजबूर है, वह युवा आज दिन-पर-दिन नशे की गिरफ़्त में आ रहा है। युवा तो युवा आज बच्चे भी नशे के शिकार हो रहे हैं। बीड़ी से लेकर शराब तक, छोटा हो या बड़ा नशा हो - देश को अन्दर से खोखला कर रहा है। एक बड़ी आबादी नौजवानों की नशे के जाल में फँस चुकी है। 29 प्रतिशत आबादी विभिन्न प्रकार के नशों की गिरफ़्त में है। इनमें से सबसे अधिक योगदान शराब का है। इसके बाद अफ़ीम, भांग-गांजा का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल किया जाता है। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि तो समाज में आम बात है, देश में नशे को मिटाने के खिलाफ़ ढेरों अभियान चल रहे हैं। सरकार से लेकर सामाजिक जन संगठन तक नशे को मिटाने में जुटे हुए हैं। लेकिन ज़मीनी स्तर पर ये अभियान कितने कारगर हैं, इसकी गवाही पीजीआईएमएस के नशा मुक्ति केन्द्र के आँकड़े दे रहे हैं - कि आखिर स्कूली शिक्षा के साथ ही युवा पीढ़ी नशे के मकड़जाल में किस कदर फँस रही है। पिछले 5 सालों में नशे के कारोबार में इतना इज़ाफ़ा हुआ कि मरीजों की संख्या क़रीब 5 गुना हो गयी। पीजीआईएमएस के नशा मुक्ति केन्द्र में हर दिन 20 से 25 मरीज आते हैं। इन मरीजों में सबसे ज़्यादा शराब पीने वालों की संख्या होती है, तो वहीं अफ़ीम, स्मैक और हेरोईन आदि नशीले पदार्थों का भी ख़ूब सेवन होता है। दिल्ली देश की राजधानी नशों के मामले में 11वें नम्बर पर है, वहीं पंजाब देश का एक ऐसा राज्य है, जो शराब व अन्य नशों के मामले में पहले पायदान पर है। अभी हाल ही में सामाजिक जनसंगठनों ने नशे (चिटे) के खिलाफ़ पूरे 7 दिन विरोध किया गया। (काले सप्ताह के रूप में) पंजाब के पढ़े-लिखे नौजवान व प्रगतिशील लोगों ने गाँव व शहरी क्षेत्रों में विरोध प्रदर्शन किया व प्रशासन और सरकार को ज़िम्मेदार ठहराया गया। आपको याद होगा कि चुनावी दौर में नशे को बड़ा राजनीतिक मुद्दा बनाने वाले कैप्टन अमरिन्दर के सामने सबसे पहले और सबसे बड़ी चुनौती अपने इसी वादे पर खरा उतरने की थी। क्योंकि चुनावी सभाओं से जिस तरह के दावे किये गये थे, उनके मुताबिक़ सत्ता सँभालने के महज़ 4 हफ़्ते के अन्दर नशे का काम तमाम कर दिया जायेगा। आप अन्दाज़ा इस बात से लगायें कि मुख्यमन्त्री के दफ़्तर से आँकड़े के लिहाज़ से देखें तो सरकार के कमान सँभालने यानी 16 मार्च से लेकर 27 मार्च तक सूबे में कुल 485 लोगों को नशे से जुड़े मामलों में गिरफ़्तार किया गया। इसी समयावधि में 387 मामले दर्ज किये गये और कुल 3 किलो 900 ग्राम हेरोईन बरामद हुई। अब भी पंजाब में नशे के आदी लोगों में 18 से 35 साल तक के युवाओं की तादाद 76 फ़ीसदी है। 10 ज़िलों में किये गये सर्वे बताते हैं कि राज्य में नशे का इस्तेमाल करने वालों लोगों की संख्या 2 लाख 32 हज़ार के पार है। इसमें ज़्यादा हैरानी की बात यह है कि इसमें 89 फ़ीसदी पढ़े-लिखे और 83 फ़ीसदी कामकाजी लोग थे। अभी भी पंजाब का बड़ा हिस्सा नशे से जूझ रहा है। जो भी पंजाब में नशे के खिलाफ़ बोलने या लिखने की कोशिश करता है, उसे राजनीतिक नेताओं द्वारा दबाया जाता है। जैसे कि एक-दो साल पहले दिलजीत दोसांझ की फ़िल्म रिलीज हुई थी। जिसका नाम था - उड़ता पंजाब, उसे राजनीतिक नेताओं द्वारा दबाने की कोशिश की गयी। उड़ता पंजाब फ़िल्म में पंजाब में नशे के कारण क्रूर परिस्थितियों को बयान किया गया था, जो राजनीतिक नेताओं को शायद हजम नहीं हो पा रही थीं। इस फ़िल्म का राजनीतिक लोगों ने विरोध किया। हाल ही में पंजाब के मशहूर कलाकार रंजीत बावा द्वारा गाये गये एक गीत - जिसके पंजाबी बोल - "चिटा बेचण सरकाराँ ताईऔं ताँ शरेयाम बिकदा" में साफ़-साफ़ कहा गया कि राजनीतिक लोग नशे के कारोबार को बढ़ावा देते हैं। शायद इसीलिए पंजाब के राजनीतिक लोगों ने इस गीत का विरोध किया। इससे साफ़ पता चलता है कि राजनीतिक लोग नशे के कारोबार चलाते हैं। वैसे तो पंजाब को सोने की चिड़िया व हरित क्रान्ति वाला राज्य माना जाता है, लेकिन जिस तरह से पिछले कुछ सालों में वहाँ से ड्रग्स के बढ़ते मामलों की ख़बरें आ रही हैं, वे चिन्ताजनक हैं। ख़बरों की मानें तो जहाँ एक तरफ़ पंजाब के स्कूल व कॉलेज के बच्चो में ड्रग्स पीना आम सी बात हो गयी है, वहीं दूसरी तरफ़ ड्रग माफ़ियाओं के लिए यह मुनाफ़ा कमाने का आसान रास्ता बन गया है। ड्रग्स माफ़िया सिर्फ़ मुनाफ़े के लिए कारोबार करते हैं। उन्हें इस बात से कुछ लेना-देना नहीं है कि ड्रग्स से कितने लोग अपनी

(पेज 4 पर जारी)

''बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।'' - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'! इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

भूल सुधार

मज़दूर बिगुल के अप्रैल 2018 के लेख में 'एससी-एसटी एक्ट को कमजोर करने के खिलाफ़ नौभास द्वारा महाराष्ट्र में चलाया गया अभियान' में एक तथ्यात्मक ग़लती है। नौभास ने पुणे में लोकायत संगठन के साथ मिलकर एससी-एसटी एक्ट के मुद्दे पर नहीं, बल्कि कठुआ और उन्नाव में घटित घटना के खिलाफ़ विरोध प्रदर्शन चलाया था। यह बिगुल संवाददाता से संवाद सम्प्रेषित न होने की वजह से हुई। आगे से ऐसी त्रुटि न हो इसका ध्यान रखा जायेगा।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर ''कम्युनिस्टों'' और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853093555, 9936650658
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - 5/- रुपये वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

गुड़गाँव-मानेसर से लेकर धारूहेड़ा-बावल तथा नीमराना-ख़ुशखेड़ा-भिवाड़ी की औद्योगिक पट्टी के हालात

तालाबन्दी, मज़दूरों की छँटनी जारी है

पिछले एक साल में आठ औद्योगिक इकाइयों की आंशिक व पूर्ण बन्दी के चलते 2300 से अधिक मज़दूरों की रोज़ी-रोटी छिन गयी। जिसमें धारूहेड़ा की ओमैक्स के लगभग 250 मज़दूर, रीको ऑटो इण्डस्ट्री के 104 मज़दूर, बिनौला की ऑटोमैक्स के 150 मज़दूर, मानेसर की ओमैक्स के 500 मज़दूर, (इण्ड्युरेंस टेक्नोलॉजिस के 400 मज़दूर, डानूका ऐग्रीटेक, गुड़गाँव की नेपिनो ऑटोस एण्ड इलेक्टॉनिस के 146 मज़दूर, एसएलआरके मज़दूरों की आंशिक व पूर्ण बन्दी के नाम पर छँटनी व तथाकथित रिटायरमेण्ट कर दी गयी है।

रीको कम्पनी के 104 परमानेण्ट मज़दूरों की छँटनी :

पिछले महीने यानी जून 2018 (मंगलवार) की 26 तारीख़ को दुपहिया वाहन निर्माता इकाई के लिए स्पेयर पार्टस बनाने वाली रीको ऑटो (धारूहेड़ा) कम्पनी के 15-20 साल से काम कर रहे 104 परमानेण्ट मज़दूरों को उत्पादन कम होने का बहाना बनाकर उनका हिसाब करके उन्हें बाहर का रास्ता दिखाया गया। और पूरे परिवार की रोज़ी-रोटी छिनकर उन्हें सड़क पर ला दिया। मशीन शॉप की लाइन नम्बर एक बन्द करके आंशिक बन्दी घोषित की गयी और 104 कर्मचारियों की नामों की सूची कम्पनी गेट पर लगा दी। और मज़दूरों की नौकरी एक झटके में छीन ली। 27 तारीख़ की सुबह को कम्पनी में भारी पुलिस फोर्स लगाकर मज़दूरों को अन्दर आने से रोक दिया। जिस पर हरियाणा राज्य में भाजपा की खट्टर सरकार ने अपनी मोहर भी लगा दी है।

फ़िलहाल मज़दूरों ने श्रम विभाग से लेकर हाई कोर्ट तक में इसे चैलेंज किया है। निकाले गये 104 स्थायी मज़दूरों द्वारा कम्पनी के गेट के आगे 28 जून से विरोध-प्रदर्शन जारी है। मज़दूर रीको कम्पनी और हरियाणा सरकार के छँटनी और आंशिक तालाबन्दी के फ़ैसले का विरोध कर रहे है। खट्टर सरकार से इसे वापस लेने के लिए कह रहे हैं। रिपोर्ट लिखने तक मज़दूरों का प्रदर्शन जारी है।

कारण : रीको कम्पनी के निदेशक राकेश कपूर कम्पनी में उत्पादन कम होने तथा ख़राब आर्थिक स्थिति के चलते मजदूरों को निकाले जाने की बात कर रहे हैं, जोकि किसी भी तरह से वास्तविक स्थिति से मेल नहीं खाती है। आज की तारीख़ में अगर रीको ऑटो के मार्च के अन्त के तिमाही नतीजे देखे जायें ((4QFY18) तो नेट मुनाफ़ा 180 करोड़ रुपये यानी 179.2% बढ़ा है। और दूसरी ओर सेल पर निगाह डालें तो वह 3 बिलियन यानी 21.0% ऊपर गया है। लेकिन ऐसी हवा बनाकर कम्पनी ने भविष्य और तबादले का डर दिखाकर 100 के क़रीब मज़दूरों का वीआरएस (स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना) दे दिला दिया।

असली वजह : इस बात का विरोध करते हुए रीको धारूहेड़ा यूनियन के प्रधान राजकुमार ने कम्पनी की इस बात को नकारते हुए कहा कि न तो कम्पनी की आर्थिक स्थिति ख़राब है और न ही उत्पादन की समस्या है। रीको के गुड़गाँव (गुरुग्राम) स्थित प्लाण्ट में उत्पादन और मशीनों को शिफ़्ट कर दिया गया है।

समर्थन : ऑटो मोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रेक्ट वर्कर्स यूनियन की तरफ़ से शाम ने आज सेक्टरगत एकता पर ज़ोर देते हुए कहा कि मालिकों की तानाशाही को ऑटो सेक्टर के मज़दूरों की एकता के दम पर टक्कर दी जा सकती है। कम्पनी किसी भी तरह से घाटे में नहीं है। उसका शेयर 100 फ़ीसदी से ऊपर जा रहा है और कम्पनी का एक्सपोर्ट भी बढ़ा है। आने वाले दिनों में कम्पनी डिफेंस के लिए काम करेगी। तो फिर कैसे कम्पनी घाटे में चल रही है? यह सब बहानेबाज़ी है, असली मंशा तो परमानेण्ट मज़दूरों को बाहर करने की और यूनियन को ख़त्म करने की तथा ठेका प्रथा को बढ़ाना है। कम्पनी अपना माल गुड़गाँव प्लाण्ट से ले जाकर अन्य प्लाण्टों में जारी रखे हुए है। आज बड़ा फ़ैक्टरी मालिक या कारपोरेट यही चाल चल रहे हैं। उत्पादन कम होने, कम्पनी का आकार कम करने, घाटा होने का बहाना बनाकर मज़दूरों को निकाला जा रहा है और सस्ते मज़दूरों से काम करवाने के लिए ठेका प्रथा को बढ़ावा दिया जा रहा है। चाहे 'फ़िक्स्ड टर्म नियुक्ति' के क़ानून को लागू करवाने का मामला हो या स्थायी प्रकृति के काम पर ठेका प्रथा को लागू करने का मामला हो या सीधे मालिकों द्वारा मज़दूरों को ठेके पर रखने का मामला हो। ये सब अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए लगे हुए हैं। ठेका प्रथा के नाम पर भी ठेका प्रथा क़ानून को किसी भी तरह से लागू नहीं किया जा रहा है। आज फ़ैक्टरी में काम करने वाला मज़दूर अच्छी तरह से जानता है कि छिमाही और दिहाड़ी के हिसाब से मज़दूरों को रखा जाता है और हिसाब दिया जा रहा है। न पहचान पत्र, न पेमेण्ट रसीद। कही पर तो पीएफ़, पेंशन तक नहीं दिया जाता है। फ़िलहाल कोर्ट में दो बार तारीख़ पड़ चुकी है। बाहर छँटनी किये मज़दूरों द्वारा प्रदर्शन जारी है। और बाक़ी परमानेण्ट मज़दूर कम्पनी के अन्दर काम कर रहे हैं। बिगुल के लिए रिपोर्ट लिखने तक रीको यूनियन के पधाधिकारियों को कहना है कि वक़्त आने पर आन्दोलन को तेज़ किया जायेगा।

– शाम मूर्ति

12 जुलाई को क्लस्टर बसों के संवाहकों ने की एक दिवसीय हड़ताल

-बिगुल संवादाता

बीती 12 जुलाई को दिचाउँ कलाँ क्लस्टर बस डिपो के संवाहकों ने एक दिवसीय हड़ताल की। दिल्ली की सड़कों पर दिन-रात सवारियों को ले जाने का अधिकांश भार डीटीसी और क्लस्टर बस के ऊपर आता है। दिल्ली की सड़कों पर दौड़ने वाली कुल बसों की संख्या क़रीब साढ़े पाँच हज़ार है, जिसमें से क़रीब 2000 बस कलस्टर बस सर्विस के तहत चलायी जाती हैं। क्लस्टर बस दिल्ली सरकार द्वारा पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप मॉडल के तहत चलायी जाती है। दिल्ली इण्टीग्रेटेड मल्टी मोडल ट्रांज़िट सिस्टम (डीआईएमटीएस) दिल्ली सरकार और आईडीएफ़सी फ़ाउंडेशन का जॉइण्ट वेंचर है जिसकी ज़िम्मेदारी क्लस्टर बस को चलाने की है। डीआईएमटीएस के द्वारा कूटा जाने वाला अकूत मुनाफ़ा निर्भर करता है बसों के असल परिचालन में लगे चालकों, संवाहकों, सफ़ाई-कर्मचारियों इत्यादि की मेहनत की लूट पर। इस पीपीपी मॉडल के तहत चालकों की नियुक्ति की ज़िम्मेदारी जहाँ निजी पूँजीपतियों के हिस्से पड़ती है, वहीं संवाहकों/संचालकों की नियुक्ति की ज़िम्मेदारी दिल्ली सरकार के ऊपर है। संवाहकों का काम स्थायी प्रकृति का है, किन्तु दिल्ली सरकार संवाहकों की नियुक्ति का काम सीधे न करके इसकी ज़िम्मेदारी 'मानव संसाधन' को "ठेके" पर मुहैया करने वाली एजेंसियों मसलन ट्रिग, पाराग्रीन, एसआईइस, ग्रूप 4 आदि को सौंपती है और इस तरह संवाहकों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी व जवाबदेही से बच निकलती है। हर छह महीने पर एक संवाहक जिस एजेंसी के तहत रजिस्टर होता है, उसका रजिस्ट्रेशन दूसरी एजेंसी के द्वारा कर दिया जाता है और उसका पिछला पूरा रिकॉर्ड गायब कर दिया जाता है।

क़रीब 2000 क्लस्टर बसों में काम करने के लिए क़रीब 5000 संवाहक मौजूद हैं। आमतौर पर एक संवाहक की एक दिन में डबल ड्यूटी लगती है यानी कि आठ-आठ घण्टे की दो पारियाँ। संवाहकों से काम डेली बेसिस पर लिया जाता है यानी उन्हें हर रोज़ अपने लिए ड्यूटी लेनी होती है और उसी हिसाब से उनका मासिक वेतन तय किया जाता है। दिल्ली सरकार द्वारा तय किया गया न्यूनतम वेतन तक संवाहकों को नहीं दिया जाता है। किसी अन्य किस्म का बोनस, भत्ता तो दूर की बात है, न कोई रविवार की छुट्टी दी जाती है, न ही कोई अन्य सरकारी छुट्टी। जैसे लेबर चौक पर मज़दूर अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए आपस में होड़ करते हैं, वैसे ही संवाहकों के बीच होड़ पैदा की जाती है। संवाहकों की संख्या जानबूझकर ज़रूरत से ज़्यादा रखी जाती है, ताकि एक संवाहक के ऊपर डीआईएमटीएस जब चाहे तब दबाव बना सके। संवाहकों के ऊपर लगतार 'नो ड्यूटी' की एक तलवार लटकती रहती है। 'नो ड्यूटी' एक किस्म का निलम्बन है जिसके तहत किसी संवाहक को अनिश्चित सीमा तक ड्यूटी मुहैया नहीं करायी जाती है। संवाहकों का कहना है कि 'नो ड्यूटी' की कहीं कोई अधिकारिक परिभाषा नहीं है। कई बार बिना किसी ठोस कारण या जाँच के किसी को 'नो ड्यूटी ' कर दिया जाता है। ऐसा किसी लिखित दस्तावेज़ के द्वारा नहीं, बल्कि बाबुओं द्वारा मुँहजबानी किया जाता है।

इस दबाव के कारण डीआईएमटीएस संवाहकों के सामने मनचाही और बेतुकी शर्तें रखता है। उन पर दबाव बनाया जाता है कि हर चक्कर पर एक निश्चित राशि जमा की जाये, चाहे सवारी मिले या न मिले, अन्यथा 'नो ड्यूटी' कर दिया जायेगा। आमतौर पर ट्रैफ़िक की वजह से तय किये गये चक्कर को पूरा करने में चालक और संवाहक को अपनी दोनों पारियों से क़रीब 3 से 4 घण्टे का अतिरिक्त समय लगता है, इस अतिरिक्त समय के लिए किसी भी किस्म का ओवरटाइम नहीं दिया जाता है। सेहत खराब होने से लेकर गाड़ी खराब होने तक की हालत में तय की गयी राशि एक संवाहक को डीआईएमटीएस को वसूल कर देना होता है। राशि जमा कराते वक्त 2 कम या ज़्यादा होना संवाहकों के लिए 'नो ड्यूटी' का सबब बन जाता है। वहीं दूसरी तरफ़ बाबू को भी ख़ुश करना पड़ता है ताकि अगले रोज़ उनको काम मिल सके। चेकिंग स्टाफ़ से लेकर बाबुओं की बदतमीज़ी संवाहकों के लिए आम बात है, ड्यूटी के लिए बाबू पर निर्भर रहने के साथ-साथ चेकिंग स्टाफ़ से ज़िल्लत सहना उनके लिए रोज़मर्रा की बात है।

काम की इन भयंकर परिस्थितियों से परेशान होकर संवाहकों ने स्वतःस्फूर्त ढंग से संघर्ष की शुरुआत की। बिगुल मज़दूर दस्ता के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने 'क्लस्टर कण्डक्टर संघर्ष समिति' के तहत अपने माँगपत्रक का परचा निकालकर अन्य डिपो के संवाहकों के बीच वितरित किया और उनका आह्वान किया कि हरेक डिपो में संवाहकों की परिस्थितियां एक-सी हैं, इसीलिए अपनी यूनियन रजिस्टर करवाकर अपने संघर्ष को सुदृढ़ किया जाये। उनकी मुख्य माँगें स्थायी श्रमिक का दर्जा दिये जाने, न्यूनतम वेतन 21,000 रुपये प्रतिमाह करने, नियुक्ति पत्र, पहचान पत्र, पेमेण्ट स्लिप, बोनस आदि अन्य भत्ते दिये जाने, जबरन ओवरटाइम बन्द करवाने तथा ओवरटाइम की सूरत में डबल रेट से भुगतान करने, जबरन 'नो ड्यूटी' बन्द करवाने आदि हैं। बारह जुलाई को की गयी हड़ताल से संवाहकों को कुछ रियायतों का आश्वाशन मिला है - जैसे, जमा की जाने वाली राशि में 35 रुपये ऊपर-नीचे होने की सूरत में 'नो ड्यूटी' न किया जाना, जबरन ओवरटाइम की हालत में ट्रिप छोटा करने की अनुमति।

अभी, संवाहक साथियों को अपने संघर्ष को आगे की मंज़िल में ले जाना होगा। उन्हें अपनी यूनियन दर्ज कराकर स्थाई श्रमिक का दर्जा प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक संवाहकों तक पहुँचना होगा, और एक डिपो के स्तर पर नहीं बल्कि सारे डिपो के स्तर तक संघर्ष को फैलाना होगा।

– सिमरन

गोरखपुर में फ़र्टिलाइज़र कारख़ाने का गोरखधन्धा

आज़ादी के बाद जब भारत सरकार जनता की गाढ़ी कमाई से सार्वजनिक उपक्रम खड़ा कर रही थी, उसी समय कम्पनी अधिनियम 1956 के तहत वर्ष 1961 में गोरखपुर में खाद कारख़ाना (फ़र्टिलाइज़र कार्पोरेशन ऑफ़ इण्डिया लिमिटेड) यूनिट को पंजीकृत किया गया। उस समय देशभर में सबसे अच्छी किस्म की खाद आपूर्ति गोरखपुर फ़र्टिलाइज़र यूनिट करती थी। नब्बे के दशक में जब उदारीकरण-निजीकरण किया जा रहा था और निजी पूँजी अपने पाँव पसार रही थी, सरकार भी पूँजीपतियों को फलने-फूलने का साधन उपलब्ध करा रही थी, उसी दौरान खाद कारख़ाना बन्द करने की घोषणा कर दी गयी। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि सरकार के पास कम्पनी बन्द करने की कोई वाजिब वजह नहीं थी, फिर भी 10 जून 1990 को कम्पनी को बन्द कर दिया गया। कम्पनी बन्द होने तक उत्पादन बहुत ज़्यादा हो रहा था और कम्पनी लगातार मुनाफ़े में चल रही थी। उस समय गोरखपुर फ़र्टिलाइज़र खाद आपूर्ति के मामले में भारत ही नहीं, एशिया भर में ऊँचा स्थान रखती थी।

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि फ़र्टिलाइज़र प्रबन्धन ने कम्पनी बन्द होने का मुख्य कारण मज़दूरों-कर्मचारियों की लापरवाही बताया जोकि एक सफ़ेद झूठ है। सरकार आज तक गोएबल्स की शैली में इसी झूठ को दोहराकर इसे सच साबित करने में लगी हुई है। खाद कारख़ाने से निकाले गये कर्मचारी अरुण कुमार, जो वर्तमान में कारख़ाने से सम्बन्धित कई माँगों को लेकर आन्दोलन चला रहे हैं, उन्होंने बताया कि बन्द होने से पूर्व कम्पनी में लम्बे समय से ऐसी पाइपलाइन का इस्तेमाल किया जा रहा था जिसके इस्तेमाल की समय-सीमा समाप्त हो चुकी थी। पाइपलाइन की उम्र 12 से 15 वर्ष ही थी, लेकिन 25 वर्ष तक उसे इस्तेमाल किया गया, जिस वजह से पाइपलाइन फट गयी और इस दुर्घटना में कई मज़दूर घायल हुए और एक मज़दूर की मौत हो गयी। उत्पादन न रुके, इसके लिए सरकार ने तुरन्त नयी पाइपलाइन के लिए धनराशि आवंटित की। लेकिन प्रबन्धन ने पाइपलाइन नहीं लगवायी बल्कि प्राप्त धनराशि को प्रबन्धन और दलाल ट्रेड-यूनियन के नेताओं ने मिल-बाँटकर खा लिया। बाद में फ़र्टिलाइज़र प्रबन्धन कहने लगा कि मज़दूरों की हड़तालों की वजह से कम्पनी घाटे में जा रही है, इसलिए इसे बन्द किया जा रहा है।

कारख़ाना प्रबन्धन से जब कारख़ाने में काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या के बारे में सूचना माँगी गयी तो जवाब में 5100 मज़दूर होने की जानकारी मिली। वर्ष 2002 में कर्मचारियों के लिए धमकी भरा पत्र जारी किया गया, जिसमें निर्देश दिया गया था कि तीन माह के भीतर सभी कर्मचारी वीएसएस (वालण्टियरी सेप्रेशन स्कीम) ले लें नहीं तो न लेने वाले कर्मचारियों की सेवा समाप्त कर दी जायेगी। इस फ़र्जी स्कीम के अन्तर्गत 5100 में से 4394 कर्मचारियों को ज़बरदस्ती वीएसएस देकर कम्पनी से बाहर कर दिया गया।

सवाल यह उठता है कि शेष 706 कर्मचारी बिना सेवा समाप्त हुए कहाँ गये? इन कर्मचारियों ने न तो वीएसएस लिया और न ही उनकी सेवा समाप्त की गयी और न ही वो फ़र्टिलाइज़र में कार्यरत हैं, और न ही इन कर्मचारियों का कोई रेकॉर्ड उपलब्ध है।

वीएसएस के बारे में सूचना के अधिकार के तहत प्राप्त जानकारी के अनुसार मन्त्रालय ने साफ़ कहा कि मन्त्रालय में वीएसएस जैसा कोई नियम है ही नहीं। इसकी जगह कर्मचारियों को सेवामुक्त होने के लिए वीआरएस 1972 से लागू है। सुप्रीम कोर्ट की फ़ाइल से प्राप्त सूचना में वीएसएस जैसा कोई नियम नहीं है, जबकि वीआरएस का प्रावधान ज़रूर है। कर्मचारियों के मुकदमे से सम्बन्धित फ़ाइल में भी प्रबन्धन से वीएसएस की जगह वीआरएस ही लिखा था। फिर सवाल उठता है कि प्रबन्धन ने कर्मचारियों को किस आधार पर वीएसएस दिया है?

फ़र्टिलाइज़र के दस्तावेज़ में वर्ष 1990 को अन्तिम खाद उत्पादन का वर्ष बताया गया है। कर्मचारियों के लिए कम्पनी 28 वर्ष पहले ही बन्द हो चुकी है, लेकिन व्यवहार में इसका उल्टा ही है। सरकारी काग़ज़ों में कम्पनी आज भी चल रही है और उत्पादन प्रक्रिया भी जारी है।

भारत सरकार के रसायन व उर्वरक मन्त्रालय ने अपनी सूचना में बताया कि अभी भी कारख़ाने की मशीनों का बीमा होता है और उत्पादन के एवज़ में टैक्स जमा होता है और अभी भी महाप्रबन्धक ड्यूटी बजाते हैं। इसके अलावा अभी भी उत्पादन शुल्क जमा होता है। बीमा कम्पनी लिमिटेड ने वर्ष 2004-05 में कारख़ाने की खाद का बीमा किया था और प्रीमियम के रूप में क्रमशः 13860 और 12960 रुपये की रसीद काटी गयी थी।

फ़र्जी स्कीम वीएसएस लागू कर वर्ष 2002 में कर्मचारियों को जबरन रिटायर कर दिया गया। रिटायर होने वाले कर्मचारियों को वर्ष 2002 के वेतनमान की जगह 15 वर्ष पहले 1987 का वेतनमान दिया गया। इस अन्याय के ख़िलाफ़ लम्बे समय तक आन्दोलन चला, लेकिन कर्मचारियों की कोई सुनवाई नहीं हुई।

सूचना के अधिकार के तहत 26 जून 2016 को महाप्रबन्धक जगदीश प्रसाद से भ्रष्टाचार के आरोप में बर्ख़ास्त वित्त प्रबन्धक चन्द्रप्रकाश के बारे में सवाल पूछा गया जिसका जवाब मिला कि चन्द्रप्रकाश को 1982 में बतौर ट्रेनी पंच वेरिफ़ायर ऑपरेटर पद पर रखा गया था। एक वर्ष बार 9 फ़रवरी 1983 को इस पद पर उनकी स्थायी नियुक्ति कर दी गयी, लेकिन खाद कारख़ाने में भ्रष्टाचार की शिकायत के बाद जाँच में उनको दोषी पाया गया और 1988 में कारख़ाने से निकाल दिया गया। आश्चर्य की बात यह है कि गम्भीर आरोपों में बर्ख़ास्त किये गये चन्द्रप्रकाश को 17 अक्टूबर 1989 को फिर से वित्तप्रबन्धक के पद पर नियुक्ति दी गयी।

इस नियुक्ति के सम्बन्ध में सफ़ाई देते हुए महाप्रबन्धक ने बताया कि चन्द्रप्रकाश ने 25 अप्रैल 1989 को आवेदन किया था, उसी आधार पर उनकी नियुक्ति की गयी है। इस फ़र्जी नियुक्ति के लिए न तो इण्टरव्यू हुआ और न ही कोई अन्य प्रक्रिया चलायी गयी।

खाद कारख़ाना के कर्मचारी और उनके परिजन फ़र्टिलाइज़र परिसर में 21 अक्टूबर 2013 से अनवरत धरने पर बैठे हैं। उनकी मुख्य माँगे हैं -

1. कर्मचारी पेंशन को बन्द कर दिया गया है, उसे बहाल किया जाये।
2. गोरखपुर खाद कारख़ाने को वीएसएस स्कीम के तहत बन्द किया गया था तो अभी तक बन्द की न्यायिक प्रक्रिया क्यों नहीं पूरी की गयी, इसका स्पष्टीकरण दिया जाये।
3. गोरखपुर खाद कारख़ाने के कर्मचारियों को वीएसएस के तहत 2002 में निकाल दिया गया था, लेकिन उनमें से 9 कर्मचारियों ने 58 वर्ष तक सेवा की और 3 कर्मचारी अभी भी कार्यरत हैं। यह स्पष्ट किया जाये कि कार्यरत कर्मचारी किस प्रावधान के तहत अभी भी कार्य कर रहे हैं। छँटनीग्रस्त सभी कर्मचारियों को वर्तमान आधार पर भुगतान दिया जाये या सेवा में रखा जाये।
4. फ़र्टिलाइज़र कर्मचारियों को वीएसएस स्कीम के तहत निकाला गया, तो उसे सुप्रीम कोर्ट की वेज फ़ाइल में क्यों वीआरएस कहा गया है, इसका स्पष्टीकरण दिया जाये।
5. गोरखपुर फ़र्टिलाइज़र के निर्माण के लिए स्थानीय किसानों से जो ज़मीन ली गयी थी, उसमें यह तय किया गया था कि परिवार के एक सदस्य को नौकरी मिलेगी। लेकिन वीएसएस के तहत कर्मचारियों को नौकरी से निकाल दिया गया।
6. सर्विस पीरियड में जो कर्मचारी दुर्घटनाग्रस्त हुए उनके बच्चों को नौकरी दी जाये।

– राजू कुमार

भारत में बढ़ती नशाखोरी का आलम

(पेज 2 से आगे)

ज़िन्दगी खो बैठते हैं तथा परिवार के परिवार नशे के चलते मिट्टी में मिल जा रहे हैं। नशे के कारण सड़क दुर्घटनाएँ होना आम बात है। नशा एक ऐसी चीज़ है जिसका सेवन कर आदमी अधिक उत्तेज़ित होता है और बलात्कार व छेड़छाड़ की घटनाओं को अंजाम देता है। नशे के कारण बहुत-सी चोरी की घटनाएँ सामने आती हैं। क्योंकि नशा आदमी के अन्दर बेकार की बहादुरी पैदा करता है। लेकिन मुनाफ़ाखोर तो सिर्फ़ अपना मुनाफ़ा देखते हैं। पिछले 5 साल में पंजाब के सामाजिक सुरक्षा विभाग ने साल के अन्त में जो आँकड़े दिये। उनके अनुसार पंजाब के गाँव में क़रीब 67 फ़ीसदी घर ऐसे हैं, जहाँ कम से कम एक व्यक्ति नशे की चपेट में है। इसके अलावा हर हफ़्ते एक व्यक्ति की मौत हो जाती है। सिर्फ़ पंजाबी ही नहीं नशे की चपेट में भारत के कई राज्य ऐसे हैं, जो नशाखोरी में अव्वल माने जाते हैं, जैसे अन्तरराष्ट्रीय सीमा से सटे मणिपुर में नशे की खेप तेज़ी से बढ़ रही है। आयेदिन सीमा सुरक्षा बल द्वारा नशे की बड़ी खेप के पकड़ने की ख़बरें आती रहती हैं। जो इस ओर इशारा करती हैं कि ड्रग्स की जड़ें कितनी गहरी हैं। मणिपुर में भी सरकारी आँकड़े कहते हैं कि लगभग 45000-50000 लोग नशे की चपेट में हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि म्यांमार-थाईलैण्ड की सीमाएँ इस राज्य से जुड़ी हुई हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि इस व्यापार में इन देशों से मदद मिलती है। ख़ैर जो भी है मणिपुर का युवा भी तेज़ी से नशाखोरी का शिकार होता जा रहा है। मणिपुर की सीमा से लगे होने के कारण मिज़ोरम भी मणिपुरी की तरह नशाखोरी का शिकार है। मिज़ोरम में भी सबसे ज़्यादा नशीले पदार्थों का इस्तेमाल किया जाता है। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय द्वारा भारतीय राष्ट्रीय सर्वेक्षण की 2016 की एक रिपोर्ट की मानें तो मिज़ोरम में पिछले चार सालों में क़रीब 48,209 टन नशीली दवाइयाँ ज़ब्त की गयी हैं।

देश की राजधानी दिल्ली भी नशाखोरी का बड़ा अड्डा बन चुकी है! दिल्ली में कुछ इलाक़े ऐसे हैं जहाँ गाजा, चरस, कोकीन का धन्धा तेज़ी से फल-फूल रहा है। इन्हीं जगहों से ड्रग माफ़ियाओं द्वारा दूसरी जगह पर नशा मुहैया कराया जाता है।

नशाखोरी के ख़िलाफ़ मुहिम चलाने का दावा करने वाली दिल्ली सरकार ने पिछले वर्षों में 58 शराब के ठेको के लाइसेंस जारी किये थे, जिसे लेकर विपक्षियों ने ख़ूब हो-हल्ला मचाया। 2016 में दिल्ली सरकार के समाज कल्याण विभाग की पहल पर कराये गये सर्वे के मुताबिक़ राजधानी में 70 हज़ार बच्चों को नशे का शिकार पाया गया।

इस रिपोर्ट में बताया गया था कि सड़कों पर रहने वाले बच्चे ख़तरनाक से ख़तरनाक नशे का सेवन करते हैं। रिपोर्ट यह भी कहती है कि राजधानी में 20 हज़ार ऐसे बच्चे हैं जो कि तम्बाकू खाते हैं। इसके साथ ही नशे के शिकार बच्चों में शराब पीने वाले 9450, भांग-गांजा पीने वाले 5600, हेरोईन का सेवन करने वाले 840 और अन्य प्रकार के नशे का सेवन करने वाले 7910 शामिल हैं।

देश के अन्य राज्यों की तरह देखा जाये तो बिहार भी नशाखोरी में पीछे नहीं है। ज़हरीली शराब के कारण लोगों के मरने की ख़बरें इस राज्य से आती रही हैं। हालाँकि बिहार के मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार ने बिहार में शराबबन्दी करके नशाखोरी में लगाम कसने की पहल की, लेकिन इसके बावजूद चरस, गाजा जैसे अन्य नशे के साधनों में किसी प्रकार की कोई गिरावट नहीं आयी है। वहाँ के निवासियों की मानें तो इनमें शराबबन्दी के बाद इज़ाफ़ा ज़रूर हो गया है।

गांजे के कारोबार से जुड़े लोग अब ज़्यादा सक्रिय हो गये हैं। नारकोटिक्स कण्ट्रोल ब्यूरो के आँकड़े बताते हैं कि साल 2016 में 496.3 किलो गांजा ज़ब्त हुआ था, जबकि साल 2017 (सिर्फ़ फ़रवरी तक) में 6884.47 किलो गांजा ज़ब्त हो चुका है।

देखा जाये तो शराबबन्दी वाले राज्य बिहार में सबसे बड़ा संकट तस्करी का है, जिसके कारण राज्य में नाशखोरी बढ़ रही है और युवाओं का भविष्य खराब हो रहा है।

बिहार की तरह केरल ऐसा राज्य है, जहाँ शराब पूरी तरह से बन्द हैं, लेकिन इसके बावजूद भी यहाँ पर नशाखोरी कम नहीं हुई है। शराबबन्दी के कारण यहाँ अफ़ीम, चरस और कोकीन जैसे मादक पदार्थों का कारोबार बड़े पैमाने पर फल-फूल रहा है। जिसका शिकार केरल के युवा हो रहे हैं। राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो के इन आँकड़ों से पता चलता है कि ड्रग्स की लत से जुड़ी सबसे ज़्यादा आत्महत्याएँ महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में होती हैं। तीसरे स्थान पर केरल है। इस दक्षिणी राज्य में 475 लोगों ने आत्महत्याएँ की थीं।

नशीले पदार्थों के बारे में अगर हम हरियाणा की बात करें, तो यह भी बाक़ी राज्यों की तरह नशाखोरी से ग्रस्त है। इस राज्य में भी युवा तेज़ी से नशे की चपेट में आ रहे हैं। इसका उदाहरण पिछले साल हुई पुलिस भर्ती में देखने को मिला था, जहाँ कई युवा नशे में लिप्त पाये गये थे। यहाँ तक कि नशे के कारण एक युवा की मौत तक हो गयी थी। अपुष्ट आँकड़ों के मुताबिक़ हरियाणा सरकार द्वारा पीजीआईएमएस रोहतक में चलाये जा रहे नशा मुक्ति केन्द्र के आँकड़ों के मुताबिक़ हरियाणा में पिछले 6 वर्षों में नशीले पदार्थों के सेवन करने वाले युवाओं की संख्या में चार गुना बढ़ोत्तरी हुई थी। साफ़ जाहिर है कि मामला बेहद गम्भीर है।

– रिंकू सिधानी
हरियाणा

नोएडा की एक्सपोर्ट कम्पनियों में मज़दूरों की बदतर हालत

बिगुल संवाददाता

तमाम बुर्जुआ अर्थशास्त्री और सरकारी भोंपू जिन श्रम क़ानूनों को देश की आर्थिक प्रगति की राह का रोड़ा बताते रहते हैं उनकी असलियत जानने के लिए राजधानी से सटे औद्योगिक महानगर नोएडा में मज़दूरों की हालत को देखना ही काफ़ी है। राजधानी दिल्ली के बगल में स्थित नोएडा देश के सबसे बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में से एक है। यहाँ सैकड़ों अत्याधुनिक फ़ैक्टरियों में लाखों मज़दूर काम करते हैं। इन फ़ैक्टरियों में मज़दूरों का शोषण और उत्पीड़न कोई नयी बात नहीं है। मगर हाल के दिनों में विभिन्न एक्सपोर्ट कम्पनियों में मज़दूरों के साथ होने वाली बदसलूकी बढ़ती जा रही है जिसके कारण मज़दूरों में मालिकों के ख़िलाफ़ आक्रोश भी गहराता जा रहा है। इन कम्पनियों में काम कर रही महिलाओं की हालत तो और भी बदतर तथा असहनीय है।

चौड़ी जगमगाती सड़कें जिन पर महँगी गाड़ियों की रेलमपेल मची रहती हैं, ऊँची-ऊँची जगमग इमारतों और बड़े-बड़े शॉपिंग मालों के बीच नोएडा की लाखों मेहनतकश आबादी अपने अस्तित्व का आभास भी नहीं दिला पाती। एक तरफ़ समृद्धि के टापू और ऐश्वर्य की मीनारें हैं तो दूसरी तरफ़ तलछट में रेंगती ज़िन्दगी। बजबजाती नालियों, सीलन भरे दड़बेनुमा कमरों में चिपचिपाती उमस, पोर-पोर में बसी अथाह थकान और कभी न ख़त्म होने वाली रूटीन की घुटन, यह तस्वीर है रसातल में रहने वाली उस भारी आबादी की ज़िन्दगी की जिसकी मेहनत की लूट पर यह व्यवस्था टिकी हुई है।

नोएडा में रहने वाले मेहनतकशों में ज़्यादातर युवा मज़दूर हैं जिनका भारी हिस्सा अनेक एक्सपोर्ट कम्पनियों में काम करता है। नियमों के पालन का हाल यह है कि जिन कम्पनियों में 2000 से अधिक मज़दूर काम करते हैं उनमें भी कम्पनी के पेरोल पर बहुत कम मज़दूरों के ही नाम होते हैं क्योंकि ज़्यादातर काम ठेके पर करवाया जाता है। काम के घण्टों की यहाँ कोई सीमा नहीं है और सामान्य दिनों में सुबह 9 से रात 12 बजे तक काम चलता है, इसके अतिरिक्त नाइट शिफ़्ट की भी बहुतायत होती है जिसके कारण काम अधिक होने पर कभी-कभी मज़दूर लगातार 20-21 घण्टे तक काम करते रहते हैं। इसके बाद यदि रविवार का अवकाश दे दिया गया तो इसे कम्पनी की तरफ़ से मज़दूरों पर उपकार माना जाता है।

सभी कारख़ानों में मज़दूर 12-14 घण्टे काम करते हैं और कहीं भी ओवरटाइम की मज़दूरी डबल रेट से नहीं मिलती। अनेक कारख़ानों में महिलाओं को रात साढ़े आठ-नौ बजे तक ओवरटाइम करना पड़ जाता है। महिलाएँ जब काम से निकलती हैं तो गेटकीपर उनके बैग और टिफिन तक चेक करता है। एक दिन एक कारख़ाने में छुट्टी के वक़्त रात आठ बजे गेटकीपर ने कुछ महिलाओं पर फब्तियाँ कसीं व उनसे छेड़छाड़ की कोशिश की तो सभी महिलाओं ने एकजुट होकर उसे जमकर लताड़ लगायी। ऐसे में उस गेटकीपर पर कार्रवाई करने के बजाय अगले दिन मालिकान ने महिलाओं पर ही चोरी का आरोप लगा दिया और फ़रमान जारी कर दिया कि - 'अगले दिन से महिलाएँ शॉल ओढ़कर नहीं आयेंगी क्योंकि वे शॉल में कपड़े का पीस चुराकर ले जाती हैं।' महिलाओं ने इसका कड़ा विरोध किया मगर मालिकान अपने इस वाहियात नियम पर अड़े रहे। ज़्यादातर फ़ैक्टरियों में आयेदिन महिलाओं को ऐसी कठिन स्थितियों का सामना करना पड़ता है।

कुछ ऐसी भी कम्पनियाँ हैं जिसमें अधिकांश मज़दूरों को कम्पनी की तरफ़ से काम पर रखा जाता है। उन्हें कुछ लुभावनी सहूलियतें दी जाती हैं। जैसे, महीने के अन्त तक पेमेण्ट मिल जाना, बस की सेवा जो कम्पनी से घर तथा घर से कम्पनी तक छोड़ती है और कम्पनी का कार्ड दे दिया जाता है। हालाँकि वेतन इन्हें भी सरकार द्वारा तय न्यूनतम मज़दूरी से कम ही मिलता है। मज़दूरों को ख़ुश करने के लिए यहाँ-वहाँ सुविधाओं के चार्ट टाँग दिये गये हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि इन कम्पनियों में भी वही मज़दूर विरोधी रवैया होता है जैसा अन्य कम्पनियों में रहता है। इन कम्पनियों में इतनी बारीकी से मज़दूरों की श्रमशक्ति का दोहन तथा शोषण होता है कि आम मज़दूर इसे समझ नहीं पाते। उनके मिनट-मिनट का हिसाब रखा जाता है, चप्पे-चप्पे पर लगे कैमरों से उन पर हर समय नज़र रखी जाती है। वे ज़रा-सी देर के लिए भी अगर काम में थोड़े ढीले पड़े या आपस में बोलने-बतियाने लगे तो सुपरवाइज़र सिर पर सवार हो जाता है और पैसे काट लिये जाते हैं। कम्पनी की बस में भी आते-जाते समय महिलाओं को तमाम तरह की दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता है। कुछ ही ऐसी कम्पनियाँ हैं जिनमें मज़दूर बैठकर काम कर सकते हैं। अधिकांश में तो सुबह से शाम तक खड़े होकर काम करना पड़ता है। आधे से अधिक मज़दूरों की सेहत अच्छी न होने से खड़े होकर काम करना मुश्किल हो जाता है। ख़ासकर महिला मज़दूरों को 10-12 घण्टे खड़े रहने के कारण कई तरह के गम्भीर रोग हो जाते हैं। वे अपनी मर्ज़ी से शौचालय भी नहीं जा सकतीं, जिसके कारण बहुतेरी महिलाएँ प्यास लगने पर भी पानी नहीं पीती हैं। जिन कम्पनियों में बैठकर काम करना हो, वहाँ वेतन कम मिलता है। ऐसे में मजबूरीवश ऐसी कम्पनियों में मज़दूरों को खटना पड़ता है। बैठकर काम करने वाली फ़ैक्टरियों में मज़दूरों से हर समय ज़्यादा प्रोडक्शन की माँग की जाती है। सुपरवाइज़र चिल्लाता रहता है – 'जल्दी करो, तेज़ हाथ चलाओ'। इन कम्पनियों में पर्दे के छल्ले, रिंग, पर्दे के पट्टे, चूड़ी-कब्ज़े आदि बनाये जाते हैं। इनमें हाथों की उँगलियों का छिल जाना, कट-फट जाना और हाथों में जगह-जगह तार की छोटी-छोटी कीलों का धँस जाना आम बात है। अगर प्रोडक्शन में कमी हुई तो मज़दूरों को कम्पनी से बाहर कर दिया जाता है।

काम के दौरान मज़दूरों के साथ चूहे-बिल्ली का खेल खेला जाता है। काम पर यह कहकर रखा जाता है कि वेतन 9000 रुपये मिलेगा, कुछ दिन काम कर लेने के बाद अन्य मज़दूरों से पता चलता है कि 7000 ही मिलेगा। वह भी दो महीने बाद मिलता है। अगर कोई मज़दूर तंग आकर बीच में काम छोड़ दे तो उसकी उतने दिन की मज़दूरी मार लेते हैं। ठेकेदार-मालिक झूठ बोलकर मज़दूरों की भर्ती करते हैं – ख़ासकर महिलाओं की। महिलाओं से ज़्यादातर बारीक काम कराया जाता है। जब पेमेण्ट मिलने का दिन आता है तो ठेकेदार कहता है – 'इस महीने नहीं अगले महीने मिलेगा। काम करना है तो करो, नहीं तो जाओ'। मज़दूरों की यही स्थिति रहती है कि कभी इस फ़ैक्टरी का तो कभी उस फ़ैक्टरी का चक्कर लगाना पड़ता है। किसी फ़ैक्टरी में ज़्यादा संख्या में एक साथ मज़दूरों से ज़्यादा दिन काम नहीं कराते हैं जिससे उनमें एकता न बनने पाये।

मज़दूरों की वर्गीय चेतना को कुन्द करने और उन्हें आपस में बाँटने के लिए कम्पनी का मैनेजमेण्ट कई तरह के हथकण्डे अपनाता है। जिनमें से एक यह है कि मज़दूरों के कई संस्तर बना दिये गये हैं। इसलिए रात की पाली में काम करने वाले मज़दूरों को रात के भोजन के लिए अलग-अलग भुगतान किया जाता है जो 25 रुपये से लेकर 50 रुपये तक हो सकता है। कपड़े धोने, शौचालय की सफ़ाई और पीने का पानी एक ही स्रोत से लिया जाता है। वैसे तो ज़्यादातर कम्पनियों में चाय नहीं मिलती मगर जहाँ मिलती है वहाँ के मज़दूर भी उसे पीना पसन्द नहीं करते। मज़दूरों को गुलामों की तरह निचोड़ा जा सके, इसके लिए पानी पीने की जगहों के अलावा शौचालय तक में कैमरे लगे रहते हैं ताकि मज़दूरों की गतिविधियों पर नज़र रखी जा सके। हालाँकि इसकी ज़्यादा ज़रूरत नहीं पड़ती है क्योंकि मज़दूरों के सामने उत्पादन का लक्ष्य इतना ऊँचा रखा जाता है कि वे अपनी जगह से हिल भी नहीं पाते हैं। मैनेजमेण्ट का एक आदमी लगातार कटखने कुत्ते की तरह उन पर उत्पादन बढ़ाने के लिए भौंकता रहता है। रात की पाली में अक्सर ही ये ऐसे शख़्स नशे में धुत्त पाये जाते हैं और मज़दूरों पर गालियों की बौछार करते रहते हैं।

मज़दूरों का शोषण करने के अतिरिक्त मालिकान और किसी चीज़ की गारण्टी नहीं लेते, न मज़दूरों की सुरक्षा की, न उनके स्वास्थ्य की, यहाँ तक कि कम्पनी के गेट के बाहर मज़दूर अपनी साइकिलें भी अपने ही रिस्क पर खड़ी करते हैं। कम्पनी के मालिक काग़ज़ पर सारा रिकार्ड दुरुस्त रखते हैं और उसकी सारी फ़ाइलें क़ानून का पालन करती हैं। प्रशासन भी सन्तुष्ट रहता है और काम भी चलता रहता है। साल-दो साल में कोई लेबर डिपार्टमेण्ट का कोई इंस्पेक्टर मालिक को पहले से फोन करके "औचक जाँच" के लिए आ जाता है और चाय-पानी लेकर खानापूरी करके चला जाता है। ऊपर से जले पर नमक छिड़ने के लिए कम्पनी के गेट पर एक सुझाव पेटिका लटका दी जाती है जिसके मार्फ़त मैनेजमेण्ट मज़दूरों से सुझाव माँगता है कि कम्पनी को बेहतर ढंग से कैसे चलाया जाये, यानी उनको और अच्छी तरह से कैसे लूटा जाये!

ज़्यादातर कारख़ानों में यूनियन नहीं है और जहाँ हैं उनमें से अधिकांश किसी चुनावबाज़ पार्टी की केन्द्रीय यूनियन से जुड़ी हुई हैं जो मज़दूरों को बहकाने तथा उनके संघर्षों की धार कुन्द करके मालिकों की मदद करने के अलावा कुछ नहीं करते। निकाले गये, दुर्घटना का शिकार हुए या मालिकों के किसी भी ज़ुल्म का शिकार हुए मज़दूरों के "केस" का समाधान करवाने का धन्धा करने वाले दल्ले भी यूनियन नेताओं के नाम पर भरे पड़े हैं। लेकिन मज़दूरों के अन्दर आक्रोश लगातार सुलग रहा है। तीन वर्ष पहले भारत बन्द के दौरान मज़दूरों का यही आक्रोश सड़कों पर फूट पड़ा था। लेकिन मज़दूर बिखरे हुए हैं और उनमें वर्ग चेतना तथा अपने अधिकारों की चेतना की कमी है। उनके बीच इस चेतना का प्रसार करना और उनमें संगठित संघर्ष की चेतना देना सबसे ज़रूरी काम है। उन्हें यह समझाने की ज़रूरत है कि इलाक़ाई पैमाने की क्रान्तिकारी यूनियनों और उद्योग के सेक्टरवार गठित क्रान्तिकारी यूनियनों में संगठित होकर ही वे अपने शोषण-उत्पीड़न और बदहाली के विरुद्ध असरदार ढंग से लड़ सकते हैं।

– बिगुल डेस्क

उत्तराखण्ड मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन के पहले चरण की शुरुआत

उत्तराखण्ड मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन के पहले चरण के तहत हरिद्वार के रौशनाबाद के मज़दूर बस्ती में व्यापक हस्ताक्षर अभियान चलाया गया और 'मज़दूर जागरूकता रैली' व सभा के माध्यम से मज़दूरों को अपने हक़-अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष को आगे बढ़ाने का आह्वान किया गया।

बिगुल मज़दूर दस्ता व स्त्री मज़दूर संगठन द्वारा उत्तराखण्ड के मज़दूरों के माँगपत्रक आन्दोलन की शुरुआत 22 अप्रैल से की गयी है जिसके तहत 24 माँगों को उत्तराखण्ड की सरकार के सामने रखा जाना है! इस माँगपत्रक की मुख्य माँगें हैं कि उत्तराखण्ड के मज़दूरों की मज़दूरी जो अभी तक 5500 से 7200 रुपये मासिक है, को बढ़ाकर 16000 रुपये किया जाये। स्त्री-पुरुष मज़दूरों को समान कार्य का समान वेतन दिया जाये। ठेका प्रथा को ख़त्म किया जाये। कम्पनी पहचानपत्र व वेतन स्लिप दिया जाये। सिडकुल में ईएसआई अस्पताल व पीएफ़ का दफ़्तर खोला जाये।

मज़दूर जागरूकता रैली के बाद की गयी मज़दूर सभा में माँगपत्रक की माँगों पर बात रखते हुए बिगुल मज़दूर दस्ता के अपूर्व ने कहा कि माँगपत्रक में उठायी गयी मुख्य माँगें आज हमारे जीवन जीने की शर्त बन चुकी है। इन बुनियादी माँगों के बिना एक सम्मानजनक जीवन जीना असम्भव है। ठेका प्रथा को ख़त्म करने की माँग आज मज़दूर वर्ग की मुख्यतम माँगों में है। देश की 46 करोड़ मज़दूर आबादी में 43 करोड़ मज़दूर बिना किसी क़ानूनी और सामाजिक सुरक्षा के असंगठित क्षेत्र में काम कर रहे हैं। आज सरकारी और अर्द्धसरकारी विभागों में भी दैनिक संविदा और ठेके के तहत कर्मचारियों को रखा जा रहा है जिनके ऊपर हमेशा छटनी की तलवार लटकी रहती है। जबकि सरकार का यह दायित्व बनता है कि वह सभी कार्य कर सकने वाले नागरिकों को स्थायी रोज़गार को गारण्टी दे। सरकार ने ख़ुद भी ठेका प्रथा क़ानून (1970) लागू करते समय 'विनियमन' के साथ 'उन्मूलन' शब्द भी जोड़ा था। जिसका अर्थ कि भविष्य में ठेका प्रथा को नियमित प्रकृति के कामों में नहीं लागू किया जायेगा और इसे ख़त्म कर दिया जायेगा, लेकिन इसे समाप्त करने की जगह लगातार इसे बढ़ावा ही दिया गया है। आज पूरे देश के मज़दूरों को एकजुट होकर इस क़ानून को समाप्त करने की माँग करनी होगी।

न्यूनतम वेतन के सवाल पर बात रखते हुए रामाधार ने कहा कि उत्तराखण्ड में न्यूनतम वेतन आसपास के राज्यों (दिल्ली, हरियाणा, उत्तर प्रदेश) के न्यूनतम वेतन से बहुत ही कम है,जबकि जीवन-जीने की मूलभूत सुविधाओं के मूल्यों व महँगाई आदि में कोई अन्तर नहीं है। न्यूनतम वेतन का सवाल व्यक्ति के गरिमामय जीवन और भरण-पोषण से जुड़ा हुआ है। ऐसे में उत्तराखण्ड के मज़दूरों का न्यूनतम वेतन कम से कम दिल्ली राज्य सरकार के न्यूनतम वेतन के बराबर होना चाहिए। हालाँकि इस वेतन पर भी दिल्ली हाईकोर्ट ने सख्त टिप्पणी की थी कि, "क्या आप 16000/- रुपये में अपने परिवार का गुज़र-बसर कर सकते हैं?" और दिल्ली के पूँजीपतियों की वेतन न बढ़ाने की याचिका को खारिज करने के साथ इस तर्क को भी ख़ारिज़ किया था कि "न्यूनतम वेतन बढ़ जाने से निवेश में कमी आयेगी और उत्पादन घटेगा।"

उत्तराखण्ड माँगपत्रक आन्दोलन के पहले चरण में व्यापक हस्ताक्षर अभियान चलाकर मज़दूरों को इस माँगपत्रक के ज़रिये जागरूक किया जायेगा। इसके दूसरे चरण में जगह-जगह मज़दूर पंचायतें व सभा का आयोजन किया जायेगा, ताकि इन माँगों पर विस्तार से मज़दूरों के बीच चर्चा की जा सके। इसके तीसरे व अन्तिम चरण में उत्तराखण्ड सरकार को यह माँगपत्रक सौंपा जायेगा।

उत्तर प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में शिक्षा-रोज़गार अधिकार अभियान ने गति पकड़ी

उत्तर प्रदेश में सबको एकसमान और नि:शुल्क शिक्षा एवं रोज़गार की गारण्टी सहित दस सूत्रीय माँगों वाले माँगपत्रक के समर्थन में लोगों को लामबंद करने के लिए चलाया जा रहा शिक्षा-रोज़गार अधिकार अभियान प्रदेश के कई हिस्सों में गति पकड़ रहा है। नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन और जागरूक नागरिक मंच की ओर से चलाया जा रहा यह अभियान प्रदेश के कई जिलों में शहरी और ग्रामीण दोनों ही इलाकों में चलाया जा रहा है। राजधानी लखनऊ के अतिरिक्त इलाहाबाद, गोरखपुर, अंबेडकरनगर, चित्रकूट, उरई और मऊ में इस अभियान के समर्थन में अब तक हज़ारों की संख्या में हस्ताक्षर जुटाए जा चुके हैं। कई चरणों में चलने वाले इस अभियान के पहले चरण में आगामी 28 सितंबर तक लाखों की संख्या में हस्ताक्षरों के साथ लखनऊ में एक बड़ा प्रदर्शन करके प्रदेश सरकार को एक ज्ञापन सौंपने की योजना है।

अभियान के तहत नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन और जागरूक नागरिक मंच के कार्यकर्ताओं की टोलियाँ सार्वजनिक स्थानों पर नुक्कड़ सभाएँ करके, मार्च निकालकर, हस्ताक्षर डेस्क लगाकर और घर-घर जाकर अभियान के बारे में लोगों को जागरूक कर रही हैं और अभियान के समर्थन में बड़े पैमाने पर हस्ताक्षर करवा रही हैं। गाँवों में चौपाल लगाकर लोगों को जागरूक किया जा रहा है। अभियान में पर्चे, पोस्टर, बैनर और नारों के अतिरिक्त नुक्कड़ नाटक और गीत जैसे रचनात्मक रूपों का इस्तेमाल किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्रदेश में चल रहे अन्य आन्दोलनों जैसेकि शिक्षामित्रों के आंदोलन, बीटीसी और बीएड के अभ्यर्थियों के आन्दोलन को भी शिक्षा-रोज़गार अधिकार अभियान से जुड़े कार्यकर्ता अपना समर्थन जता रहे हैं और ऐसे आन्दोलनों में शामिल लोगों से अपने आन्दोलन को व्यापक रूप देने की और अभियान का समर्थन करने की अपील कर रहे हैं। अभियान के तहत अलग-अलग शहरों में शिक्षा और रोज़गार के मसलों पर औपचारिक व अनौपचारिक विचार-चर्चाओं का भी आयोजन किया जा रहा है। गुजरे छह जून को लखनऊ के ईको गार्डेन में चल रहे शिक्षा मित्रों के प्रदर्शन के दौरान एकजुट हुए सैकड़ों शिक्षा मित्रों के बीच शिक्षा-रोज़गार अभियान के कार्यकर्ताओं ने उनके आन्दोलन को व्यापक रूप देकर रोज़गार की गारण्टी की मुहिम से जुड़ने की अपील की। इस अवसर पर अभियान की सांस्कृतिक टोली ने कुछ क्रान्तिकारी गीतों की प्रस्तुति की और मौजूदा व्यवस्था में बेरोज़गारों की व्यथा और संसद व विधानसभाओं में नेता-मंत्रियों की कुत्ताघसीटी व जूतमपैजार को उजागर करने वाले नाटक हवाई गोले का मंचन भी किया।

प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में चलाए जा रहे अभियान के दौरान बात रखते हुए अभियान के कार्यकर्ता लोगों को यह बता रहे हैं कि लाखों नौजवान नौकरी की तलाश में प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले छात्र अपने जीवन के सबसे शानदार दिनों को मुर्गी के दरबे नुमा कमरों में किताबों का रट्टा मारते हुए बिता देने के बाद भी अधिकांश छात्रों को हताशा-निराशा ही हाथ लगती है। बहुत सारे छात्रों के परिजन अपनी बहुत सारी बुनियादी ज़रूरतों तक में कटौती कर के पाई-पाई जोड़ करके किसी तरह अपने बच्चों को एक नौकरी के लिए बेरोज़गारी के रेगिस्तान में उतार देते हैं। लेकिन अधिकांश युवा रोज़गार की इस मृग-मारीचिका में भटकते रहते हैं। रोज़गार की स्थिति यह है कि एक अनार तो सौ बीमार। कुछ सौ पदों के लिए लाखों-लाख छात्र फॉर्म भरते हैं। पद इतने कम हैं कि आने वाले पचास सालों में आज जितने बेरोज़गार युवा हैं उनको

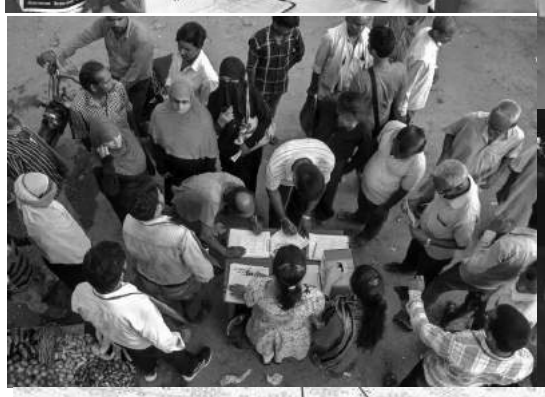

रोज़गार नहीं दिया जा सकता। इसके बाद शुरू होता है घूस-घोटाला-सिफ़ारिश-पेपर लीक कराने का सिलसिला। अंधेरगर्दी भरे इस तंत्र का लाभ नेताओं-अफ़सरों-ठेकेदारों या अमीरज़ादों के बेटों को ही मिल पाता है। आम घरों के बच्चे बस धूल चाटते रह जाते हैं। वास्तव में ये करोड़ों युवा अगर सड़कों पर उतर पड़ें तो व्यवस्था के रहनुमाओं को धूल चटा सकते हैं। लेकिन सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि यह करोड़ों की युवा आबादी संगठित नहीं है और जाति-धर्म, आरक्षण आदि पर बंटी हुई है और तमाम चुनावी पार्टियों, उनके पिछलग्गू छात्र संगठनों और छात्र नेताओं द्वारा लगातार उलटे-सीधे मुद्दों पर बाँटी जाती रहती है। आज ज़रुरत है कि छात्र-युवा इन चुनावी पार्टियों, उनके पिछलग्गू छात्र संगठनों और छात्र नेताओं के पीछे जाने की बजाय अपनी क्रान्तिकारी एकजुटता क़ायम करें और 'सबको समान व नि:शुल्क शिक्षा और सबको सम्मानजनक रोज़गार' के लिए सरकार पर धावा बोलें।

करोड़ों बेरोज़गार युवाओं से हर साल भर्तियों के नाम पर हज़ारों करोड़ रुपये वसूले जाते हैं और इन पैसों का कोई हिसाब नहीं होता। लेकिन शिक्षा और रोज़गार जैसी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए सरकार के पास पैसों की कमी है। खुद को जनता का सेवक बताने वाले देश के नेताओं की ऐय्याशी के मामले में सत्ता पक्ष और विपक्ष में बैठी पार्टियाँ एकमत हो जाती हैं, लेकिन शिक्षा और रोज़गार जैसे सवाल इनके लिए सिर्फ़ चुनावी मुद्दा भर होता है।

अभियान में यह भी बात कही जा रही है कि आम युवाओं में ये धारणा बैठा दी गई है कि सबको रोजगार दिया ही नहीं जा सकता। जबकि ये बात पूरी तरह गलत है। आज प्रदेश में बेरोज़गारों-अर्द्ध बेरोज़गारों की कुल संख्या लगभग 4 करोड़ हो चुकी है। नये रोज़गार पैदा करना तो दूर, पहले से खाली लाखों पदों पर भी भर्तियाँ नहीं हो रही हैं। सरकारी स्कूलों में शिक्षकों के पौने तीन लाख पद बरसों से खाली पड़े हैं। प्राइमरी से लेकर उच्च शिक्षा तक अन्धाधुन्ध निजीकरण ने शिक्षा का ऐसा बाज़ार बना दिया है जहाँ आम घरों के बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा पाना नामुमकिन होता जा रहा है। किसी तरह शिक्षा मिल भी जाती है तो रोज़गार मिलने की कोई गारण्टी नहीं होती। पूरे देश की बात की जाए तो आज देश के विभिन्न विभागों में लाखों पद खाली हैं। देश भर में प्राइमरी और अपर प्राइमरी अध्यापकों के 10 लाख पद, पुलिस विभाग में 55 लाख पद, रेलवे में और 4 लाख पद खाली हैं लेकिन वो भरे नहीं जा रहे। इन पदों पर भर्तियाँ करने की बजाय पदों को ही समाप्त किया जा रहा है। बहुत सारे विभागों में परमानेंट भर्तियाँ करने की बजाय अधिकतर कामों को संविदा और ठेके पर दिया जा रहा है जहाँ पर कोई आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा नहीं है। अगर इन पदों पर नियमित भर्तियाँ करने के साथ ही पैसे और संसाधनों का इस्तेमाल करके करोड़ों नई नौकरियाँ भी पैदा की जा सकती हैं

इतना ही नहीं एक तरफ़ जो नौकरियाँ निकल भी रही हैं वो भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जा रही है दूसरी तरफ़ परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भी भर्ती की प्रक्रिया पूरी होने में कई साल गुजर जाते हैं। अभी लेखपाल के लिए प्रस्तावित 4000 पदों की भर्ती फिर फँस गई है। छात्र महंगे-महंगे फ़ार्म खरीदते हैं लेकिन परीक्षा के रद्द होने पर वो पैसा कहाँ चला जाता है इसका कुछ भी अता-पता नहीं होता। जनता के खून पसीने की कमाई से खड़े पब्लिक सेक्टर धीरे धीरे निजीकरण की भेंट चढ़ते जा रहे हैं। रोजगार के मौजूदा संकट के पीछे इन नीतियों का भी हाथ है।

इसके अलावा अभियान के दौरान यह बात भी की जा रही है कि हाल के वर्षों में बढ़ते निजीकरण की वजह से अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा आम घरों के बच्चों की पहुँच से बाहर होती जा रही है। किसी तरह शिक्षा अर्जित करके जब आम घरों के युवा रोज़गार की तलाश में निकलते हैं तो अव्वलन तो रोज़गार मिलना लगातार मुश्किल होता जा रहा है, अगर किसी तरह कोई नौकरी मिलती भी है तो वो पक्की नहीं होती। इन मुश्किल हालातों में युवाओं में बहुत बड़े पैमाने पर तनाव और अवसाद पसरा पाया जाता है। तमाम युवा तो तंग आकर आत्महत्या कर रहे हैं। पिछले दो सालों में 26000 से अधिक युवाओं ने आत्महत्या कर ली। जब तक युवा अकेले-अकेले अपनी समस्याओं का सामना करने के बारे में सोचते रहेंगे तब तक उन्हें निराशा और हताशा ही हाथ लगेगी। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि शिक्षा और रोज़गार जैसे बुनियादी अधिकारों के लिए एकजुट और संगठित प्रयास किए जाएँ।

अब तक शिक्षा-रोज़गार अधिकार अभियान के समर्थन में लखनऊ के डालीगंज, बाबूगंज, खदरा, कपूरथला, हज़रतगंज, चारबाग और कैसरबाग के इलाकों में, इलाहाबाद में प्रयाग स्टेशन और उसके आसपास के इलाके, सलोरी में शिव चौराहे और ओम गायत्री नगर के आस-पास, गोविन्दपुर के ऑटो स्टैण्ड से जीशान मार्केट होते हुए अपट्रान चौराहे तक, मेजा में कोंहड़ारघाट के पास सिलौधी गाँव, के बक्शी बाँध पर सब्जी मण्डी और ट्रीटमेण्ट प्लांट के आसपास, गोरखपुर में बख्तियार और घोसीपुर मोहल्ले में , बड़हलगंज के पास डेरवा गाँव, बिछिया, इन्दिरा बाल विहार, आज नगर, निगम परिसर, ज़ाफरा बाज़ार, बेलवा बाज़ार देवरिया, उरई (जालौन) के चकजगदेवपुर गाँव, लहरियापुरवा, गूढ़ा खुर्द, बघौरा की मुस्लिम बस्ती, कलक्ट्रेट परिसर, जिला परिषद, विकास भवन, नया पटेल नगर - हड्डी मिल चित्रकूट के रामनगर में, रामनगर के मोहल्ला बीआरसी टोला, रामनगर के पास लोधौरा गांव, मऊ में मुंशीपुरा, सहादतपुरा, ब्रह्मस्थान के पास सिंघलपट्टी, अम्बेडकरनगर में फरीदपुर हेठरिया, से बड़की देवलर, आराजी देवारा (हंसू पुरवा), आराजी देवारा (करिया लोना का पुरवा), साबितपुर आदि में हस्ताक्षर जुटाए जा चुके हैं।

– बिगुल संवाददाता

नोएडा में सैम्संग के नये कारख़ाने से मिलने वाले रोज़गार का सच

इसी महीने प्रधानमंत्री मोदी और दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति मून जे-इन ने नोएडा में सैम्संग के विस्तारित कारख़ाने का उद्घाटन किया। इसे दुनिया की सबसे बड़ी मोबाइल फैक्ट्री बताया जा रहा है। पहले से मौजूद कारख़ाने को करीब 35 एकड़ अतिरिक्त ज़मीन पर विस्तारित किया गया है। सैम्संग इस समय देश में 6.70 करोड़ मोबाइल फोन बना रही है और इस कारख़ाने के चालू हो जाने के बाद यह संख्या बढ़कर 12 करोड़ हो जायेगी। पिछले 20 वर्ष से भारत में मौजूद सैम्संग के नोएडा और तमिलनाडु में दो कारख़ाने हैं जहाँ यह देश में बिकने वाले अपने मोबाइल सेट का 90 प्रतिशत उत्पादन करती है। इसके करीब 45,000 कर्मचारी हैं।

मोदी ने फैक्ट्री का उद्घाटन करते हुए बड़े ज़ोर-शोर से दावा किया कि यह कारख़ाना 'मेक इन इंडिया' की सफलता की मिसाल है और इससे हज़ारों लोगों को रोज़गार मिलेगा। नई फैक्ट्री से कितने लोगों को रोज़गार मिला यह तो अभी पता नहीं लेकिन सैम्संग कैसा रोज़गार दे रही है, यह जानना ज़रूरी है। नोएडा कारख़ाने में 1000 से अधिक ठेके के मज़दूर हैं जिन्हें 12-12 घण्टे काम करने के बाद न्यूनतम मज़दूरी भी नहीं मिलती। स्थायी मज़दूरों को मिलने वाली कोई भी सुविधा उन्हें नहीं मिलती। कारख़ाने के मज़दूरों की कोई यूनियन नहीं है और अतीत में जिसने भी यूनियन बनाने की कोशिश की उसे निकाल दिया गया।

वैसे सैम्संग के इस नये कारख़ाने को 'मेक इन इंडिया' की सफलता के तौर पर पेश करना ही सच्चाई से कोसों दूर है। वास्तव में फ़ोन और अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरण इस फ़ैक्ट्री में बनेंगे ही नहीं। सारे बने-बनाये पुर्ज़े सैम्संग की विदेशों में स्थित फ़ैक्टरियों से आयात किये जायेंगे और यहाँ पर केवल उनकी असेम्बलिंग की जायेगी। तमाम बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सस्ते श्रम की तलाश में विकासशील देशों में अपने कारख़ाने लगाती हैं। मोदी सरकार ने 'व्यापार करने में आसानी' के नाम पर पहले से ही खोखले हो चुके ज़्यादातर श्रम क़ानूनों को और भी लचर बना दिया है ताकि कम्पनियाँ बेरोकटोक मज़दूरों का शोषण कर सकें। इसी लालच में सैम्संग भारत में अपना कारोबार बढ़ा रही है।

अपने कर्मचारियों के साथ बदसलूकी के मामले में सैम्संग दुनिया भर में बदनाम है। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आई.एल.ओ.) के समक्ष इंटरनेशनल ट्रेड यूनियन कॉन्फ़ेडरेशन तथा कोरिया की कई ट्रेड यूनियनों द्वारा रखी गयी रिपोर्ट के अनुसार कम्पनी ने

अपने मज़दूरोंकी जासूसी करने और उन्हें आतंकित करने की एक व्यवस्था लागू कर रखी है, यूनियन के सदस्यों को बर्खास्त कर देती है, जिन सप्लायरों के यहाँ यूनियन है उनसे कॉन्ट्रैक्ट ख़त्म कर देती है, समझौतों का पालन नहीं करती, मज़दूरों के साथ फ़र्ज़ी कॉन्ट्रैक्ट बनाती है और मैनेजरों को श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने के लिए निर्देश जारी करती है।

इस रिपोर्ट में बताया गया है कि किस तरह से सैम्संग अपने कर्मचारियों और अपने सप्लायरों के लिए काम करने वाले लोगों को अँगूठे के नीचे दबाकर रखने के लिए रिश्वत, धमकियों, गुण्डागर्दी, नौकरी से निकालने और यहाँ तक कि अपहरण जैसे हथकण्डों का इस्तेमाल करती रही है। रिपोर्ट बताती है कि सैम्संग के 200 कर्मचारी ल्यूकेमिया, लिंफ़ोमा और अन्य पेशागत बीमारियों से ग्रस्त हो चुके हैं फिर भी कम्पनी प्रोडक्शन में इस्तेमाल होने वाले केमिकल्स का ब्यौरा देने से तब तक इंकार करती रही जब तक कि अदालत ने इस वर्ष सैम्संग की गोपनीयता नीति के विरुद्ध आदेश नहीं जारी किया। बीमार मज़दूरों में से 76 की मृत्यु हो चुकी है जिनमें से ज़्यादातर की उम्र 22 से 36 के बीच थी।

आई.एल.ओ. के समक्ष सुनवाई में सैम्संग की ''ग्रीनिंग'' प्रक्रिया के बारे में भी बताया गया जिसे मानने के लिए कम्पनी के सप्लायरों को बाध्य किया जाता है। इसके तहत मज़दूरों को यूनियन में शामिल होने से रोकने के लिए छोटे-छोटे लालच दिये जाते हैं, मज़दूरों के परिवारों पर इसके लिए दबाव डाला जाता है और स्थानीय यूनियनों में अगुआ भूमिका निभाने वाले मज़दूरों को निकाल दिया जाता है। इसमें विस्तार से यह बताया गया कि यूनियन तोड़ने के लिए सैम्संग किस हद तक जाती है। उल्सान स्थित सैम्संग के सर्विस सेंटर के एक कर्मचारी का मामला उदाहरण के तौर पर पेश किया गया जिसका मैनेजरों द्वारा अपहरण कर लिया गया था। वे उसे जबरन कार में बैठाकर दसियों किलोमीटर दूर एक टापू पर ले गये जहाँ उसका फ़ोन छीन लिया गया और उसे एक कमरे में बन्द कर दिया गया। उससे कहा गया कि अगर वह यूनियन से हटने के लिए राज़ी नहीं हुआ तो उस टापू से बाहर नहीं निकल सकेगा।

कम्पनी के दूसरे नम्बर के मालिक जे वाई. ली को एक पूर्व राष्ट्रपति को रिश्वत देने के आरोप में जेल की सज़ा भी हो चुकी है। इसी वर्ष अप्रैल में दक्षिण कोरियाई अधिकारियों ने यूनियन बनाने के प्रयासों में तोड़-फोड़ करने के आरोपों की जाँच करने के लिए सैम्संग के मुख्यालय पर छापा भी मारा था।

सैम्संग ही नहीं, भारत के सस्ते श्रम को लूटने और विशाल बाज़ार का लाभ उठाने के लिए यहाँ उत्पादन कर रही तमाम कम्पनियों का यही हाल है। एक और कोरियाई कम्पनी, एलजी की नोएडा स्थित इलेक्ट्रॉनिक्स फैक्ट्री में मज़दूरों के हालात के बारे में पीपुल्स यूनियन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स ने 2016 में एक रिपोर्ट जारी की थी। रिपोर्ट के मुताबिक वर्षों से मज़दूरों के वेतन में नहीं के बराबर बढ़ोत्तरी हुई थी और उनके काम की स्थितियाँ बहुत ख़राब थीं। हर मज़दूर को रोज़ाना 25-40 मिनट अतिरिक्त काम करना पड़ता था जिसके कोई पैसे नहीं मिलते थे।

रिपोर्ट कहती है: ''...काम की अधिकता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि 2003-05 में करीब 300 मज़दूर प्रति दिन 1000 यूनिट उत्पाद तैयार करते थे जबकि आज रोज़ 2500 यूनिट उत्पादन हो रहा है मगर मज़दूरों की संख्या घटकर 180 रह गयी है।''

रिपोर्ट में यह भी दिखाया गया है कि किस तरह से कम्पनी ने तरह-तरह के हथकण्डे इस्तेमाल करके मज़दूरों को ट्रेड यूनियन बनाने से रोका जो कि संविधान में दिया गया एक मौलिक अधिकार है। जब मज़दूरों ने अपना माँगपत्रक तैयारा किया और अपनी यूनियन के लिए वार्ता तथा रजिस्ट्रेशन के वास्ते 11 प्रतिनिधि अपने बीच से चुने तो कम्पनी ने मज़दूरों में फूट डालने के लिए प्रतिनिधियों सहित 150 कर्मचारियों को 'सुपरवाइज़री भत्ता' देना शुरू कर दिया। उसने मज़दूरों के माँगपत्रक को देखने से भी इंकार कर दिया। उप श्रमायुक्त (डीएलसी) के सामने मामला उठने पर कम्पनी ने कहा कि मज़दूर नेताओं को मज़दूरों का 'प्रतिनिधित्व' करने का अधिकार नहीं है क्योंकि उन्हें सुपरवाइज़री ग्रेड में तनख्वाह मिल रही है और वे सुपरवाइज़र का काम कर रहे हैं। डीएलसी ने मैनेजमेंट के पक्ष में आदेश दिया और इसी के आधार पर यूनियन के रजिस्ट्रेशन के लिए मज़दूरों का आवेदन भी ख़ारिज कर दिया गया।

'मेक इन इंडिया' अभियान और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में निर्माण करने के लिए न्यौता देने से रोज़गार पैदा होने के दावे किस तरह का रोज़गार पैदा कर रहे हैं इसका एक उदाहरण चीनी स्मार्टफोन निर्माता कंपनी वीवो इंडिया प्राइवेट लिमिटेड भी है। भारतीय बाज़ार में इसका प्रवेश दिसम्बर 2015 में 'मेक इन इंडिया' कार्यक्रम के तहत हुआ था और यह आईपीएल 2017 की प्रायोजक भी थी। उत्तर प्रदेश के ग्रेटर नोएडा में स्थित इसकी निर्माण इकाई उस समय सुर्खियों में आई जब कम्पनी ने आईपीएल सत्र के समापन पर अपने एक हज़ार कर्मचारियों को नौकरी से बर्खास्त कर दिया और इससे नाराज़ कर्मचारियों ने 25 जुलाई 2017 को इसके विरोध में फ़ैक्टरी में तोड़फोड़ की। मज़दूरों का कहना था कि पिछले दो महीनों के दौरान कई हज़ार और मज़दूरों को भी किसी-न-किसी बहाने से निकाला जा चुका है।

– बिगुल डेस्क

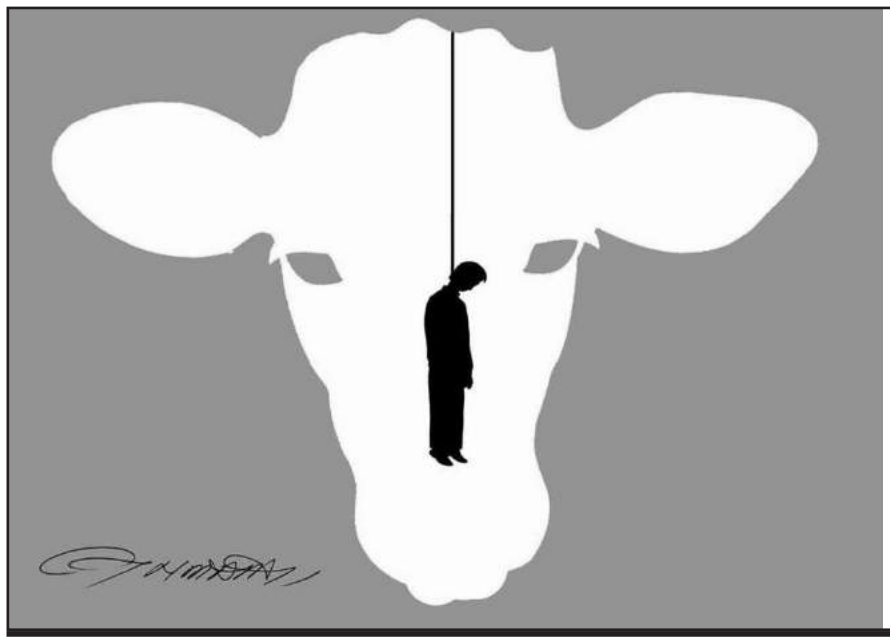

"गौमाता" के नाम पर हत्याओं का सिलसिला

मुस्लिमों का खुलेआम विरोध करने वाली मोदी सरकार के सत्ता में आने से ही देशभर में फासीवादी हिन्दुत्ववादी गोभक्तों का आतंक बढ़ गया है। गोरक्षा के नाम पर गुण्डा गिरोह बनाकर बिना रोकटोक निर्दोष लोगों खासकर दलितों व मुस्लिमों की हत्याएं की जा रही हैं। 2015 में दादरी में मोहम्मद अखलाक की घर में घुसकर हत्या की गयी, 2016 में गुजरात के उना में मृत गाय का चमड़ा निकालने का बहाना बनाकर छह दलित युवकों को बेरहमी से मारा-पीटा गया, 2017 में अलवर, राजस्थान में पहलू खान की 200 लोगों की भीड़ ने हत्या कर दी और अभी कुछ ही दिन पहले 20 जून के दिन उत्तरप्रदेश के मेरठ में कासिम की हत्या कर दी गयी। ऐसी अनगिनत घटनाएं देशभर में घट रही हैं। 2010 के बाद हुई 63 घटनाओं में से ज्यादातर घटनाएं 2014 में मोदी सरकार आने के बाद ही घटी हैं। ये घटनाएं इसलिए घट रही हैं क्योंकि हत्यारों को पता है कि उन्हें सरकार का समर्थन प्राप्त है। गोरक्षकों द्वारा हो रही हत्याओं पर मगरमच्छ के आंसु बहाने वाली मोदी सरकार का असली चेहरा एक बार फिर सामने आ गया जब हाल ही में केन्द्रीय विमानन मंत्री जयंत सिन्हा ने 2017 में झारखण्ड में अलिमुद्दीन अंसारी की हत्या करने वाले 7 हत्यारों का हार पहनाकर स्वागत किया।

कार्टूनिस्ट - तन्मय त्यागी

यही है देश के विकास की असली तस्वीर

(पेज 1 से आगे)

इस फ़्लड-लाइट से उन अँधेरे कोनों पर रोशनी नहीं पड़ती जहाँ इस विकास से 'बहिष्कृत भारत' रहता है।

एक ओर विकास के आँकड़े उछाले जा रहे हैं, दूसरी ओर देश में ग़रीबों, बेरोज़गारों, बेघर लोगों की तादाद भी लगातार बढ़ती गयी है। देश की लगभग 46 करोड़ मज़दूर आबादी में से 93 प्रतिशत, या 43 करोड़ मज़दूर असंगठित क्षेत्र में धकेल दिये गये हैं, जहाँ वे बिना किसी क़ानूनी सुरक्षा के ग़ुलामों जैसी परिस्थितियों में काम करने के लिए मजबूर हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार 45 करोड़ भारतीय ग़रीबी रेखा के नीचे जी रहे हैं, जिसका अर्थ है कि वे भुखमरी की कगार पर बस किसी तरह ज़िन्दा हैं। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) की मानव विकास रिपोर्ट में भारत 188 देशों की सूची में खिसककर अब 131वें स्थान पर पहुँच गया है। दक्षिण एशियाई देशों में यह तीसरे स्थान पर, श्रीलंका और मालदीव जैसे देशों से भी पीछे चला गया है। हमारे देश में दुनिया के किसी भी हिस्से से अधिक, 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। एक तिहाई आबादी भूखी रहती है और यहाँ हर दूसरे बच्चे का वज़न सामान्य से कम है। वैश्विक भूख सूचकांक के आधार पर बनी 119 देशों की सूची में भारत 100वें स्थान पर है, उत्तर कोरिया और बंगलादेश जैसे देशों से भी नीचे। बेरोज़गारी की दर लगातार बढ़ती जा रही है। अगर बेरोज़गारी बढ़ने की रफ़्तार यही रही तो हालात क्या होंगे इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं। ऐसे में समझना मुश्किल नहीं है कि हर साल दो करोड़ रोज़गार देने का वादा करके सत्ता में आयी मोदी सरकार ने रोज़गार के आँकड़े जुटाने और जारी करने की व्यवस्था को ही अचानक क्यों बन्द कर दिया।

एक ओर देश के तमाम महानगरों में लाखों आलीशान फ़्लैट बनकर बिकने के इन्तज़ार में ख़ाली पड़े हैं, दूसरी ओर देश में क़रीब 20 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हैं और लगभग इतने ही लोग फुटपाथों पर सोते हैं। जाहिर है कि देश के भवन निर्माण उद्योग में जो तेज़ी आयी थी उसका लाभ ख़ुशहाल मध्यवर्ग तक सिमटकर रह गया है। ग़रीबों को सिर पर छत मयस्सर नहीं हो पा रही है। कुछ वर्ष पहले एक बीमा कम्पनी ने अपने एक सर्वेक्षण में यह सच्चाई उजागर की थी कि देश की 65 प्रतिशत आबादी स्वास्थ्य, चिकित्सा और अस्पतालों का ख़र्च उठाने की स्थिति में नहीं है। सरकारी अस्पतालों की बढ़ती दुर्दशा और चिकित्सा के बढ़ते निजीकरण के कारण यह स्थिति और भी बदतर हो चुकी है। देश के तथाकथित विकास की तस्वीर और अधिक खिल उठती है अगर हम देश में पैदा हो रही कुल सम्पदा के वितरण के आँकड़ों पर एक नज़र डाल लें। ऑक्सफ़ैम की रिपोर्ट के अनुसार पिछले वर्ष देश में पैदा हुई कुल सम्पदा का 73 प्रतिशत देश के सबसे अमीर एक प्रतिशत लोगों की मुट्ठी में चला गया। इस छोटे-से समूह की सम्पत्ति में पिछले चन्द वर्षों के दौरान 20.9 लाख करोड़ रुपये की बढ़ोत्तरी हुई जो 2017 के केन्द्रीय बजट में ख़र्च के कुल अनुमान के लगभग बराबर है। दूसरी ओर, देश के 67 करोड़ नागरिकों, यानी सबसे ग़रीब आधी आबादी की सम्पदा सिर्फ़ एक प्रतिशत बढ़ी। एक तरफ़ ग़रीबी लगातार बढ़ रही है, दूसरी ओर, उद्योगपतियों, राज नेताओं, ऊँचे सरकारी अधिकारियों, ठेकेदारों आदि की छोटी-सी आबादी के पास पैसों का पहाड़ लगातार ऊँचा होता जा रहा है। आम जनता की बढ़ती तबाही के बीच इस परजीवी जमात की ऐयाशियाँ बढ़ती जा रही हैं। कहने को भारत एक जनतन्त्र है, मगर 130 करोड़ आबादी वाले इस जनतन्त्र में 100 सबसे अमीर लोगों की कुल सम्पत्ति पूरे देश के कुल वार्षिक उत्पादन के एक चौथाई से भी अधिक है। इनसे नीचे क़रीब सवा करोड़ लोगों की एक परत है जिसके कब्ज़े में कुल सम्पदा का 50 प्रतिशत और हिस्सा चला जाता है। यानी क़रीब तीन-चौथाई सम्पदा (73%) इनकी मुट्ठी में है। वास्तव में यह तथाकथित जनतन्त्र इन्हीं की जेब में है।

यह तो है आँकड़ों के आईने में देश के विकास की तस्वीर। लेकिन अच्छे से अच्छे आँकड़े भी देश की ग़रीब मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी की सच्चाई सामने नहीं ला सकते। लगातार बढ़ती महँगाई व मुद्रास्फीति के कारण वास्तविक आमदनी में कमी और कमाने के अवसरों के लगातार हाथ से फिसलते जाने के कारण आज हालत यह है कि देश की एक तिहाई से अधिक आबादी दो वक़्त की रोटी भी ठीक से नहीं खा पा रही है। दाल खाना सपना होता जा रहा है। जब ज़िन्दा रहना ही मुश्किल है तो फिर बच्चों की पढ़ाई और हारे-गाढ़े-बीमारी की कौन कहे। पूँजीपतियों और उनकी लग्गू-भग्गू जमातों की बात छोड़िए, खाया-पिया-अघाया मध्यवर्ग भी इतना संवेदनहीन और मानवद्रोही होता जा रहा है कि उसे इस बात का गुमान तक नहीं है कि उनकी ख़ुशहाली के टापुओं के चारों ओर इंसानों की पीड़ा-व्यथा का कितना अथाह महासागर हिलोरें ले रहा है।

एक तरफ़ समृद्धि और वैभव की ऊँची चोटियाँ और उसके नीचे अभाव और दरिद्रता की गहरी खाई - यह पूँजीवादी विकास की चारित्रिक विशेषता है। उदारीकरण-निजीकरण के इस दौर में अमीरी-ग़रीबी के बीच की यह खाई लगातार चौड़ी और गहरी होती जा रही है। आज दुनिया के पैमाने पर यही तस्वीर दिखायी दे रही है। अमेरिका, जापान सहित तमाम यूरोपीय देशों में आज बेरोज़गारों, ग़रीबों और बेघरों की संख्या बढ़ रही है। सम्पदा के वितरण में यह असमानता एक देश के भीतर ही नहीं बल्कि साम्राज्यवादी देशों और एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के देशों के बीच भी लगातार बढ़ती जा रही है। किन्हीं भले मानुषों की मासूम इच्छाओं और किसी भी तरह के "जनकल्याणकारी" नुस्खों से विषमता की इस खाई को पाटना मुमकिन नहीं।

समाज के एक छोर पर पूँजी संचय और दूसरे छोर पर "ग़रीबी संचय" पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का लाज़िमी नतीजा है। अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की हवस और दूसरों के मुकाबले बाज़ार में टिके रहने का दबाव पूँजीपतियों को लगातार अपना पूँजी संचय बढ़ाते जाने के लिए बाध्य करता है। पूँजीपति जितना अधिक शोषण करता है संचित पूँजी उतनी ही ज़्यादा होती है और यह संचित पूँजी शोषण के नये-नये साधनों के ज़रिये मज़दूरों का शोषण और बढ़ाती जाती है। नयी-नयी मशीनें मज़दूरों को धकियाकर काम से बाहर कर देती हैं। इसके अलावा, उत्पादन तकनीकों के लगातार विकास से स्त्रियाँ और बच्चे भी भाड़े के मज़दूरों में शामिल हो जाते हैं। साथ ही देहाती क्षेत्रों में पूँजी की घुसपैठ भारी संख्या में ग़रीब व मँझोले किसानों का भी लगातार कंगालीकरण करती जाती है और वे आजीविका कमाने के लिए शहरों की ओर उमड़ पड़ते हैं। यह पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का न टाला जा सकने वाला नतीजा है जिसके कारण आज दुनिया के पैमाने पर बेरोज़गारी बढ़ रही है। यह किसी की इच्छा से रुक नहीं सकती।

इसी तरह जब तक पूँजीवादी व्यवस्था मौजूद है तब तक दुनिया के पैमाने पर बढ़ती ग़रीबी को रोकना भी किसी की इच्छा के वश में नहीं है। मज़दूर अपनी श्रमशक्ति ख़र्च कर जो नया मूल्य पैदा करता है उसका अधिकाधिक हिस्सा पूँजीपति हड़पता जाता है और मज़दूरों की मज़दूरी का हिस्सा कम होता जाता है। राष्ट्रीय आय के वितरण में असमानता लगातार बढ़ते जाने का यह बुनियादी कारण है। इसके साथ ही लगातार बढ़ती बेरोज़गारी, मुद्रास्फीति के कारण वास्तविक आमदनी में कमी और ख़राब जीवन दशाओं के कारण मज़दूर वर्ग पूर्ण दरिद्रीकरण की अवस्था में पहुँच जाता है। पूँजीवादी समाज में मज़दूरों के पूर्ण दरिद्रीकरण की इस प्रक्रिया की चर्चा करते हुए मज़दूर वर्ग के शिक्षक और महान नेता लेनिन ने लिखा था, "मज़दूरों का पूर्ण दरिद्रीकरण हो जाता है। यानी, वे ग़रीब से ग़रीबतर होते जाते हैं, उनका जीवन और दुखपूर्ण हो जाता है, उनका भोजन बदतर होता जाता है और पेट कम भर पाता है और उन्हें तलघरों और छोटी कोठरियों में रेवड़ों की तरह रहना पड़ता है।"

पूँजीवादी उत्पादन की इसी प्रक्रिया यानी पूँजीपतियों की मुनाफ़े और पूँजी संचय की अन्धी हवस का ही नतीजा आज हमारे देश में देखने को मिल रहा है। सकल घरेलू उत्पाद की लगातार बढ़ती वृद्धि दर लेकिन आम मेहनतकश जनता की बढ़ती दरिद्रता – ये दो विरोधी सच्चाइयाँ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में राष्ट्रीय आय में पूँजीपति वर्ग और उसके लग्गुओं-भग्गुओं का हिस्सा लगातार बढ़ता गया है और मेहनतकशों का घटता गया है। केन्द्र और राज्य की सभी सरकारें आज देशी-विदेशी पूँजीपतियों को मेहनतकशों के शोषण की मनमानी छूट देने के साथ ही करों में भी बेतहाशा छूटें देकर उनकी तिजोरियाँ भरने के मौक़े दे रही हैं। धनी तबकों को करों में छूट देने का आलम यह है कि सटोरियों की कमाई बढ़ाने के लिए शेयर बाज़ार से होने वाली पूँजीगत आय को पूरी तरह करमुक्त कर दिया गया है। इससे सरकारी खज़ाने को प्रतिवर्ष जो हज़ारों करोड़ रुपये का नुक़सान होता है उसकी भरपाई के लिए आम जनता को विभिन्न प्रकार के अप्रत्यक्ष करों से लाद दिया गया है। उद्योगपतियों को पिछले कुछ वर्षों के दौरान कई लाख करोड़ रुपये की सब्सिडी और रियायतें देने वाली सरकारें जनता के लिए कल्याणकारी उपायों में लगातार कटौती कर रही हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी, बिजली, यातायात, हर चीज़ को लगातार महँगा बनाया जा रहा है।

महँगाई का आलम यह है कि अब इसकी मार सीधे ग़रीब आबादी के पेट पर पड़ रही है। मेहनतकश जनता को यह समझना होगा कि उनकी बदहाली का बुनियादी कारण महज़ किसी सरकार का निकम्मापन नहीं वरन देश की मौजूदा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली है। ये सारी सरकारें पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के तौर पर काम करती हैं जिसका एक ही मक़सद है – अपने आकाओं के मुनाफ़े को सुरक्षित रखना और लगातार बढ़ाते जाना, चाहे इसके लिए जनता को कितना भी निचोड़ना पड़े। पूँजीपतियों के लगातार बढ़ते मुनाफ़े या मुट्ठीभर ऊपरी धनी तबक़े की ख़ुशहाली का कारण मज़दूरों का दिनोंदिन बढ़ता शोषण है। किसी मज़दूर के लिए यह समझना कठिन नहीं कि अपनी श्रमशक्ति का उपयोग करके वह केवल उतना मूल्य नहीं पैदा करता जितना मज़दूरी के रूप में उसे मिलता है। वह तो उसके द्वारा पैदा किये गये मूल्य का एक छोटा हिस्सा ही होता है। बाकी हिस्सा पूँजीपति हड़प कर जाता है जिसे न केवल वह अपनी विलासिता पर ख़र्च करता है बल्कि पूँजी संचय कर और अधिक मुनाफ़ा कमाता जाता है और मज़दूर दरिद्र से दरिद्रतर होता जाता है। मज़दूर के गुज़ारे के लिए ज़रूरी वस्तुओं की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी की तुलना में उसकी वास्तविक आय में बढ़ोत्तरी इतनी कम होती है कि उसे और उसके परिवार को आधे पेट सोने पर मजबूर होना पड़ता है। लेकिन सरकार सहित सारे पूँजीवादी अर्थशास्त्री और समूचा पूँजीवादी मीडिया इस बुनियादी सच्चाई पर पर्दा डालने के लिए आँकड़ों के फ़र्ज़ीवाड़े के साथ ही माँग और पूर्ति की व्यवस्था के असन्तुलन को महँगाई के लिए ज़िम्मेदार ठहराते हैं। मनमोहन सरकार के वित्तमन्त्री चिदम्बरम का यह बयान कौन भूल सकता है जिसमें उन्होंने कहा था कि महँगाई इसलिए बढ़ रही है क्योंकि लोग अब ज़्यादा खाने लगे हैं।

मगर यह झाँसापट्टी सदा-सर्वदा चलती ही रहेगी, ऐसा मानने वाले भारी भुलावे में जी रहे हैं। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों से देश के भीतर अमीरी-ग़रीबी की जो खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है, वह देश की समूची पूँजीवादी व्यवस्था को अन्त के और क़रीब लाती जा रही है। पूँजीवादी व्यवस्था के इसी संकट ने भारत सहित दुनिया भर में फासिस्ट शक्तियों को मज़बूती दी है। तमाम शिकायतों के बावजूद देश के बड़े पूँजीपति इसीलिए मोदी सरकार के पीछे खड़े हैं। मगर फासीवाद पूँजीवाद को उसके विनाश से नहीं बचा सकता, बल्कि जनता पर बरपा होने वाले कहर को और भी बढ़ाकर संकट को और तीखा कर देता है। आज जितने बड़े पैमाने पर देश में औद्योगिक सर्वहारा वर्ग औद्योगिक महानगरों में इकट्ठा होता जा रहा है, वह ख़ुद पूँजीवादी व्यवस्था के लिए मौत का साजो-सामान बन रहा है। देश को आर्थिक महाशक्ति बनाने के नाम पर मेहनतकश अवाम के अन्धाधुन्ध शोषण के दम पर समृद्धि की जो मीनारें खड़ी हो रही हैं, उनके चारों ओर बारूद इकट्ठा होता जा रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इसे रोकने का कोई उपाय नहीं है। "पूँजी संचय की प्रक्रिया न केवल पूँजीवाद के विनाश की परिस्थितियों, यानी सामाजिक आधार पर बड़े पैमाने के उत्पादन को तैयार करती है बल्कि पूँजीवाद की क़ब्र खोदने वाले को – सर्वहारा को भी जन्म देती है।" पूँजी संचय की प्रक्रिया की इस ऐतिहासिक परिणति की ओर इशारा करते हुए मज़दूरों के शिक्षक और नेता कार्ल मार्क्स ने पूरे विश्वास के साथ घोषणा की थी : "यह बम फटने वाला है, पूँजीवादी निजी स्वामित्व की घण्टी बजने वाली है। स्वत्वहरण करने वाले का स्वत्वहरण कर लिया जायेगा।"

"स्वत्वहरण करने वालों का स्वत्वहरण" करना मज़दूर वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है। पूँजीपति वर्ग और उसे अपना ज़मीर बेच चुके बुद्धिजीवियों द्वारा बोले जाने वाले तमाम झूठों में से एक यह है कि पूँजीपति मज़दूर को पालता है। इसके उल्टे सच यह है कि मज़दूर अपनी श्रमशक्ति से नया मूल्य पैदा कर पूँजीपतियों का न केवल पेट पालता है बल्कि उसकी पूँजी भी बढ़ाता है। साफ़ है कि पूँजीपति वर्ग और उसके तमाम लग्गू-भग्गू मज़दूरों की देह पर चिपकी ख़ून चूसने वाली जोंकों के समान हैं। इन जोंकों से छुटकारा पाना मज़दूर वर्ग का नैतिक कर्तव्य है। मज़दूर वर्ग के हरावलों को व्यापक मज़दूर आबादी के बीच जाकर उन्हें इस नैतिक कर्तव्य को निभाने के लिए तैयार करना होगा।

विकास की गर्जना ठण्डी पड़ी और साम्प्रदायिक विद्वेष और अन्धराष्ट्रवाद का उन्मादी शोरगुल फैलाने की मुहिम शुरू

(पेज 1 से आगे)

तक 65 लोग भीड़ की हिंसा में मारे जा चुके हैं। हत्यारी भीड़ को सत्ता का खुला-बेशर्म समर्थन है। पिछले साल केन्द्रीय मंत्री महेश शर्मा दादरी में अख़लाक के हत्यारे के शव को तिरंगे में लपेटवाने और श्रद्धांजलि देने पहुँचे थे तो अभी हाल में दूसरे केन्द्रीय मंत्री जयन्त सिन्हा झारखण्ड में दो मुस्लिमों की हत्या के अभियुक्तों की ज़मानत होने के मौक़े पर उनको माला पहनाने पहुँच गये। राजस्थान में एक ग़रीब मुस्लिम को ज़िन्दा जलाने वाले शम्भू रैगर के समर्थन में प्रदर्शन करने और उसकी शोभायात्रा निकालने का धत्कर्म ये पहले ही कर चुके हैं।

दलितों, अल्पसंख्यकों, वामपंथी कार्यकर्ताओं के सत्ता द्वारा दमन की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। जो कोई भी मोदी सरकार और संघ के ख़तरनाक एजेण्डे के विरोध में आवाज़ उठाये उसे फ़र्ज़ी मुक़दमे लगाकर जेल में डालना, उस पर भीड़ को उकसाकर हमले करवाना, उसके विरुद्ध झूठा दुष्प्रचार करवाना – ये है इनका लोकतंत्र! बेशर्मी और नंगई के लिए भाषा में जितने मुहावरे हैं वे नरेन्द्र मोदी और संघियों के लिए नाकाफ़ी साबित हो गये हैं।

दरअसल, **यह सबकुछ संघियों की बढ़ती बदहवासी को दर्शा रहा है। अर्थव्यवस्था में छायी मन्दी और बढ़ती बेरोज़गारी के काले बादल दिन-ब-दिन घने होते जा रहे हैं और भगवाधारियों के दरबारी अर्थशास्त्री भी एक साल के भीतर उम्मीद की कोई किरण नहीं देख पा रहे हैं। तवलीन सिंह और चन्दन मित्रा जैसे मोदी की आरती गाने वालों के सुर बदलने का यही राज़ है। यही वजह है कि सट्टा बाज़ार के सूचकांक में भले ही गिरावट देखने को मिल रही हो, लेकिन नफ़रत के सूचकांक में ज़बर्दस्त उछाल दिखायी दे रहा है। विकास की गर्जना अब शान्त हो चुकी है और साम्प्रदायिक विद्वेष व अन्धराष्ट्रवाद का उन्मादी शोरगुल देश भर में फैल रहा है।** नरेन्द्र मोदी विकास की दहाड़ भूलकर अपने फिसड्डीपन का ठीकरा अतीत की सरकारों पर मढ़ने में लगे हुए हैं वहीं दूसरी ओर उनके संघी गिरोह के उपद्रवी बिरादर सड़कों पर आतंक मचाने से लेकर टीवी स्टूडियो और सोशल मीडिया, व्हाट्सऐप जैसे माध्यमों से अल्पसंख्यकों, दलितों, स्त्रियों और राजनीतिक विरोधियों के विरुद्ध निकृष्टतम स्तर के घृणित विचारों का विषवमन करते दिख रहे हैं। हमेशा की तरह इनकी अगुवाई ख़ुद नरेन्द्र मोदी ने सँभाल रखी है। हाल में उत्तर प्रदेश के आज़मगढ़ में दिये अपने भाषण से उन्होंने अपनी लम्पट सेना को संकेत दे दिया है कि आने वाले दिनों में नफ़रत का तापमान कैसे बढ़ाना है।

स्पष्ट है कि राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ जैसे महत्वपूर्ण राज्यों में आगामी विधानसभा चुनावों में अपनी सरकारें बचाने और आगामी लोकसभा चुनाव से पहले मोदी सरकार के ख़िलाफ़ बढ़ते जन असन्तोष की दिशा मोड़ने के लिए हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट किसी भी हद से गुज़र सकते हैं। **सत्ता खोने के भय वे और भी अधिक आक्रामक मुद्रा में आकर किसी बड़े षड्यंत्र को अंजाम देने से भी नहीं चूकेंगे। ऐसे में उनके गन्दे मंसूबों और जनविरोधी कारगुज़ारियों का पर्दाफ़ाश करना पहले से कहीं ज़्यादा ज़रूरी है। लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। साम्प्रदायिक नफ़रत और अन्धराष्ट्रवाद की आग में देश को झोंकने की हिन्दुत्ववादी साज़िशों को जनता के सामने उजागर करने के साथ-साथ रोज़गार, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के आधार पर आन्दोलन संगठित करने की आज सख़्त ज़रूरत है। मेहनतकश जनता के हितों की कीमत पर मोदी सरकार किस तरह अपने कॉरपोरेट आक़ाओं की तिजोरियाँ भरने के लिए सारे नियम-क़ानूनों को ताक पर धर रही है, कितने तरीक़ों से पूँजीपतियों की अवैध लूट के रास्ते खोले जा रहे हैं, देश के जल-जंगल-ज़मीन को कितने विनाशकारी ढंग से देशी-विदेशी लुटेरों के हवाले किया जा रहा है, इसका पर्दाफ़ाश लोगों के बीच लगातार करने की ज़रूरत है।**

पूँजीपतियों के सबसे वफ़ादार चाकर के रूप में नरेंद्र मोदी और संघ जनता को लूटने-निचोड़ने की राह में हर बाधा को दूर करने के लिए तैयार हैं। यही फ़ासीवादी उभार का मकसद है। इसी के लिए मोदी को सत्ता में लाया गया है। भूलना नहीं चाहिए कि 2013 में जब 'नीलसन-इकोनॉमिक टाइम्स सर्वेक्षण' के दौरान भारत के सौ बड़े पूँजीपतियों से पूछा गया तो उनमें से 74 ने मोदी को प्रधानमन्त्री के रूप में देखना पसन्द किया। 'सी.एल.एस.ए.' और 'गोल्डमैन साक्स' और फिर जापानी ब्रोकरेज कम्पनी 'नोमुरा' को भी भारत में 'मोदी लहर' चलती दिखायी देने लगी यानी ज़्यादातर विदेशी कॉरपोरेट महाप्रभु भी मोदी पर ही दाँव लगा रहे थे। पूँजीपति तो सभी बुर्जुआ पार्टियों को उनकी औकात के हिसाब से पैसे देते हैं, पर 2014 में उन्होंने भाजपा के लिए अपनी थैलियों का मुँह कुछ ज़्यादा ही खोल दिया था। यह तथ्य सार्वजनिक न हो जाये, इसके लिए सारे पूँजीपति क़ानून में ऐसा बदलाव चाहते थे जिससे यह बताना ज़रूरी न हो कि किस पार्टी को किस घराने ने कितना चन्दा दिया। मोदी सरकार ने वित्त विधेयक में संशोधन करके उनकी यह माँग भी पूरी कर दी है। सत्ता में आने के बाद पूँजीपतियों के "प्रधान सेवक" ने अपनी सेवा से उनका इतना दिल जीता कि 2017 में पूँजीपतियों से पार्टियों को मिलने वाले 956.77 करोड़ के चन्दे में से 705.81 करोड़ अकेले भाजपा को मिल गये। यह वह चन्दा था जो घोषित रूप से मिला। बाक़ी का तो हिसाब ही नहीं है।

झूठे मुद्दे उछालने, लम्बे-चौड़े हवाई वायदे करने, जुमलेबाज़ियों और नफ़रत फैलाने के ज़रिये असली मुद्दों को हाशिये पर धकेल देने की रणनीति में आर.एस.एस. हिटलर और मुसोलिनी का काबिल वारिस साबित हुआ है। **इतिहास में हुई अपनी दुर्गति से सीखकर आज फ़ासीवादी राजनीति खुले-नंगे रूप की जगह संसद और संवैधानिक संस्थाओं का आवरण ओढ़कर अपनी नीतियों को लागू कर रही है। सेना-पुलिस-न्यायपालिका और चुनाव आयोग सहित तमाम संवैधानिक संस्थाओं और शिक्षा-संस्कृति-विज्ञान आदि के संस्थानों तक में इसने अपनी पैठ बनायी है और उनका बहुत योजनाबद्ध ढंग से भगवाकरण किया है। मोदी लहर के उतर जाने या चुनाव में इसके हार जाने से भी फ़ासीवादी राक्षस का अन्त नहीं हो जायेगा।** समाज में इसकी जड़ें लगातार फैल रही हैं। धार्मिक, जातीय और अन्धराष्ट्रवादी नफ़रत का ज़हर पूरे समाज की पोर-पोर में फैलाने में ये कामयाब हो रहे हैं। बेरोज़गारी, ग़रीबी और महँगाई के कारण जनता में सुलग रहे ग़ुस्से को एक व्यापक आन्दोलन के रूप में फूट पड़ने से रोकने में ये इसीलिए कामयाब हो रहे हैं क्योंकि लोग आपस में बुरी तरह बँटे हुए हैं और एक-दूसरे को ही अपना दुश्मन मान बैठे हैं।

राजनीतिक तौर पर सचेत हर व्यक्ति पहले से ही जानता था कि मोदी सरकार नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के साथ-साथ फ़ासीवादी लम्पट गिरोहों को खुला हाथ देगी, सभी प्रगतिशील शक्तियों पर हमला करेगी, साम्प्रदायिक तनाव को हवा देगी और भीड़ द्वारा अल्पसंख्यकों की हत्या को खुली छूट देगी, तर्कवादियों की हत्याओं को बढ़ावा देगी, युवाओं के व्यवस्थित फ़ासीवादीकरण के लिए पाठ्यक्रम में बदलाव करेगी, पूँजीवादी जनवादी प्रक्रियाओं और संस्थाओं को निलम्बित व बर्बाद करेगी, भले ही संसदीय जनवाद का ढाँचा औपचारिक तौर पर क़ायम रहे और यह सबकुछ हिन्दुत्व राष्ट्रवाद के नाम पर किया जायेगा। इसमें कुछ भी हैरान करने वाला नहीं है। फ़ासीवाद हमेशा से ही सबसे बीमार क़िस्म की धार्मिक कट्टरता/नस्लवाद/प्रवासी-विरोध, अन्धराष्ट्रवाद, आधुनिक पुनरुत्थानवाद, विक्षिप्त क़िस्म के प्रगतिशीलता-विरोध और टटपुँजिया वर्ग के रूमानी उभार का मिश्रण रहा है, जो कि मज़दूर वर्ग के भी एक हिस्से को अपने साथ बहा ले जाता है। संक्षेप में, फ़ासीवाद हमेशा से ही एक प्रतिक्रियावादी *सामाजिक आन्दोलन* रहा है; यह कोई भी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया नहीं है। संघ परिवार और मोदी सरकार ने फ़ासीवाद की इस ख़ासियत को एक बार फिर से प्रदर्शित किया है, जिसे बहुत समय पहले मार्क्सवादियों द्वारा पहचान लिया गया था लेकिन जिसके बारे में आज क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों में सबसे कम समझदारी दिखायी पड़ती है।

मन्दी और मुनाफ़े की गिरती दर का पुराना पूँजीवादी रोग आज विश्व पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत संकट के दौर में अभूतपूर्व रूप से गम्भीर हो चुका है। यह अनायास नहीं है कि विकसित पश्चिम में भी आज नवफ़ासीवादी दल और आन्दोलन सिर उठा रहे हैं और तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देशों में तरह-तरह की धार्मिक कट्टरपन्थी, नस्लवादी, कबीलावादी और उग्र जातिवादी ताक़तें अपनी उग्र उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। भारतीय पूँजीपति वर्ग के सामने पूँजीवादी विकास के मौजूदा मॉडल से पीछे हटने का विकल्प ही नहीं है। नवउदारवादी नीतियों को कुछ "मानवीय चेहरे" के साथ प्रस्तुत करने का स्कोप भी काफी संकुचित हो चुका है। व्यापक जनअसन्तोष के विस्फोट का ख़तरा और चुनावी राजनीति के लोकरंजक आग्रह उसे कुछ कथित "कल्याणकारी" कदम उठाने की ओर ले जाते हैं, दूसरी ओर पूँजीवादी संकट का दबाव उसे विवश करता है कि वह बाज़ार की शक्तियों को खुला हाथ दे और मजदूरों की श्रमशक्ति की लूट के लिए श्रम क़ानूनों को ज़्यादा से ज़्यादा लचीला बना दे। पूँजीपति वर्ग की यह दुविधा सबसे पुरानी और विश्वस्त बुर्जुआ पार्टी कांग्रेस की नीतियों में दिखती है, हालाँकि उसका झुकाव भी क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश सर्वसत्तावादी होने की दिशा में ही है।

मगर भाजपा की दृष्टि एकदम साफ़ है। वह नवउदारवाद की नीतियों की उस समय से पैरोकारी करती रही है, जब इन नीतियों की विश्वव्यापी लहर आयी भी नहीं थी। इसीलिए, मोदी के 'गुजरात मॉडल' ने देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लुभाया था और उन्होंने उसे सत्ता में लाने के लिए तिजोरियाँ खोल दी थीं। **नरेन्द्र मोदी ने पूँजीपतियों पर अंकुश रखने वाले क़ानूनों को ढीला करने, उन्हें टैक्स में भारी छूटें देने, और पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप की खुली और पुरज़ोर वकालत की। श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर कारख़ाना मालिकों को लूटमार की खुली छूट देने का वादा किया और सत्ता में आते ही इन पर अमल शुरू कर दिया। जहाँ तक इन नीतियों से उपजे जनअसन्तोष के विस्फोट से निपटने का सवाल है, भाजपा मेहनतकशों के आन्दोलनों के दमन के लिए पूरे देश को 'पुलिस राज्य' तक में बदल देने के लिए तैयार पार्टी है। दूसरे, संघ परिवार के तमाम संगठन दिनों-रात जो नफ़रत फैलाते हैं उसका असली मकसद है लोगों को इस क़दर आपस में बाँट देना कि वे अपने हक़ों की लूट-खसोट के विरुद्ध एक होकर लड़ ही न सकें।** इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि मोदी सरकार ने सत्ता में आने के बाद से ही जनविरोधी और पूँजीपरस्त नीतियों को धड़ल्ले से और तानाशाहाना तरीक़े से लागू करना शुरू किया। मोदी को सत्ता में पहुँचाने के लिए ही तो बड़े पूँजीपतियों और साम्राज्यवादी पूँजी ने हज़ारों करोड़ रुपये मोदी के चुनाव प्रचार में पानी की तरह बहाये थे। मोदी द्वारा नवउदारवादी नीतियों को धक्काज़ोरी से आगे बढ़ाने में किसी को भी आश्चर्य नहीं होता क्योंकि फ़ासीवाद हमेशा ही बड़ी पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी धड़े की "सबसे बर्बर और नग्न तानाशाही" होता है। मोदी सरकार इस आम नियम का अपवाद नहीं है।

जनता की वर्गीय एकजुटता को छिन्न-भिन्न करने के लिए भारत में कट्टर हिन्दुत्ववाद की राजनीति सबसे प्रभावी है, इसके लिए मन्दिर कार्ड खेला जा रहा है, तालिबानी आतंकवाद का हौवा खड़ा करके पूरी मुस्लिम आबादी को अलगाव में डालने की साज़िशें की जा रही हैं, दंगे भड़काये जा रहे हैं और साम्प्रदायिक तनाव का देशव्यापी माहौल पैदा किया जा रहा है। इसके साथ ही, बीच-बीच में कभी चीन और कभी पाकिस्तान के साथ सीमा-विवाद और कश्मीर के सवाल को तूल देकर उग्र अन्धराष्ट्रवाद को भी खूब हवा दी जा रही है। पूरी तरह कॉरपोरेट घरानों का ग़ुलाम मीडिया झूठों के इस जुलूस में सबसे आगे डंका बजाते हुए चल रहा है। भाजपा को लेकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों की चिन्ता और दुविधा सिर्फ यह है कि मोदी की तमाम कारगुज़ारियों के बावजूद न तो अर्थव्यवस्था में उछाल आ रहा है, न मुनाफ़ा बढ़ रहा है (अडानी-अम्बानी-रामदेव जैसों को छोड़कर) और न ही देश में पूँजी निवेश के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बन पा रही हैं। मोदी और संघ की ओर से उन्हें आश्वस्त किया जा रहा है कि अल्पसंख्यकों और अन्य उत्पीड़ित तबकों को आतंकित करके दोयम दर्जे के नागरिकों जैसी स्थिति में धकेलने के बाद लगातार सामाजिक अशान्ति की स्थिति नहीं बनी रहेगी। आपस में बँटे हुए मेहनतकश अपनी सस्ती से सस्ती श्रमशक्ति बेचने को

(पेज 10 पर जारी)

फ़ासीवाद को हराने के लिए लम्बी और निर्णायक लड़ाई की तैयारी करनी होगी

(पेज 9 से आगे)

मजबूर होंगे और ग़रीबों की वर्गीय एकजुटता बनने से रोकी जा सकेगी। ऐसे में वे बेरोकटोक जनता को चूसकर अपना मुनाफ़ा बढ़ा सकेंगे। पूँजीपतियों का बड़ा हिस्सा इसीलिए अब भी मोदी पर दाँव लगाने के लिए तैयार दिखता है, हालाँकि बीच-बीच में उनके बीच से चिन्ता के स्वर भी उभर रहे हैं।

मोदी सरकार की बढ़ती अलोकप्रियता से उत्साहित बहुत से लोग अभी से यह ख़ुशफ़हमी पालने लगे हैं कि 2019 में मोदी की हार होगी और उसके साथ ही देश को फ़ासीवाद से मुक्ति मिल जायेगी। कई लोग कांग्रेस का पुनरुत्थान होता हुआ देखकर बहुत आशान्वित हैं। बेशक़ नोटबन्दी और जीएसटी जैसे जनविरोधी आर्थिक क़दमों के कारण मोदी सरकार का सामाजिक आधार घटा है। इसके अलावा मोदी के सत्ता में आने के बाद से बेरोज़गारी, महँगाई और खेती के संकट के अभूतपूर्व रफ़्तार से बढ़ने ने भी असन्तोष को हवा दी है। **''वामपन्थियों'' का एक ''चिरन्तन और नादान आशावादी'' हिस्सा है जो मोदी के अलोकप्रिय होने से कुछ ज़्यादा ही उत्साहित हो गया है और अगले चुनाव में फ़ासीवाद के ख़ात्मे की आशा में यह भूल ही गया है कि फ़ासीवाद को महज़ चुनावी रणनीति से नहीं हराया जा सकता है। कुछ चुनावों में भाजपा की हार पर ख़ुशी से उछलने लगना और उसकी चुनावी जीत पर हताशा में डुबकी लगा जाना इस प्रकार के नादान आशावादियों के बुर्जुआ विभ्रमों को ही दिखाता है।**

"वामपन्थियों" का एक अन्य हिस्सा है जो हाल के घटनाक्रमों से यह नतीजा निकालता है कि फ़ासीवाद ह्रास और पतन का शिकार है। ज़ाहिर है कि वे 'मोदी लहर' और फ़ासीवाद के बीच फ़र्क़ नहीं कर पाते। 'मोदी लहर' मौजूदा फ़ासीवादी उभार का तात्कालिक रूप है; यह अपने आप में फ़ासीवाद नहीं है। इसके नीचे जाने का मतलब फ़ासीवाद का कमज़ोर पड़ना नहीं है। **इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि बहुत अलोकप्रिय हो जाने की स्थिति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ख़ुद ही मोदी को किनारे लगाकर किसी और चेहरे को आगे कर दे।** ऐसे 'वामपन्थियों' का राजनीतिक मोतियाबन्द उन्हें सारवस्तु को देखने नहीं देता और वे हमेशा ऊपरी सतह पर ही अटके रहते हैं। यही कारण है कि जब मोदी जीत जाता है तो पीछे देखने पर उन्हें आडवाणी 'कम बुरा' लगने लगता है; जब आडवाणी शीर्ष पर पहुँच जाता है, तो उन्हें अटल बिहारी वाजपेयी का व्यक्तित्व उदार लगने लगता है; और यह असम्भव नहीं है कि अगर कोई मोदी से भी ज़्यादा रुग्ण, प्रतिक्रियावादी और आक्रामक व्यक्तित्व फ़ासीवादियों या सरकार के शीर्ष पर पहुँच जायेगा तो ऐसे लोगों को पीछे देखने पर मोदी भी उदार नज़र आने लगे।

उदार "वाम" का एक अन्य हिस्सा भी है जो कि अभी भी मोदी व फ़ासीवाद को हराने के लिए दमित अस्मिताओं को जोड़-तोड़कर कोई समीकरण बनाने के फेर में पड़ा हुआ है। पिछले कई चुनावों में भाजपा के अपेक्षा से ख़राब प्रदर्शन का मुख्य कारण था समाज के कुछ हिस्सों का वर्गीय असन्तोष व ग़ुस्सा, भले ही वे वर्ग 'राजनीतिक' रूप में सचेत या संगठित नहीं थे। लेकिन इन वामपंथियों ने दावा किया कि दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों, पिछड़ों आदि ने मिलकर भाजपा को अनेक जगहों पर हराया है। वास्तव में यह ग़रीब और निम्न मध्यम किसानों, निम्न मध्य वर्ग और मज़दूर वर्ग का असन्तोष था जिसके कारण चुनावों में भाजपा का प्रदर्शन उसकी अपेक्षा के अनुरूप नहीं रहा। मगर यह उदारवादी वाम या वाम उदारवादी धड़ा, और विशेष तौर पर बुद्धिजीवी, भाजपा को हराने के एक अस्त्र के रूप में दलित, ओबीसी, मुसलमान और स्त्री आदि का समीकरण बनाने जैसे सुझाव उछाल रहे हैं। इस तरह की बातें बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय को एक बहुसंख्यवादी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी गोलबन्दी में तब्दील करने के भाजपा के मंसूबों को फ़ायदा ही पहुँचाती हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसे समुदायों को जोड़-गाँठकर कोई एकता बन ही नहीं सकती है। जिस गोलबन्दी में फ़ासीवाद का मुँहतोड़ जवाब देने की ताक़त है वह है वर्गीय गोलबन्दी। लेकिन **वर्गीय गोलबन्दी पर इन उदार वामपन्थियों को भरोसा नहीं है और न ही इसकी लम्बी व कठिन राह पर चलने का उनमें दम और हौसला है।**

भारत की "उदारवादी वामपन्थी" जमात की एक और श्रेणी उन लोगों की है जो अचानक राहुल गाँधी और कांग्रेस के समर्थक बन गये हैं। उन्होंने अख़बारों में और वेबसाइटों पर राहुल गाँधी और कांग्रेस में आये भारी बदलाव के बारे में कॉलम लिखने शुरू कर दिये हैं और सोशल मीडिया पर मुहिम छेड़ दी है। कांग्रेस के खेल में वापस आने से वे काफ़ी ख़ुश हो गये हैं। उनका तर्क है कि फ़ासीवादी भाजपा को हराने के लिए हमें 'टैक्टिक्स' के तौर पर राहुल गाँधी का समर्थन करना चाहिए, जो, चाहे राजनीतिक लाभ के लिए ही सही, लेकिन आम मेहनतकश जनता के मुद्दे उठा रहे हैं। ऐसे लोग लघुकालिक स्मृतिलोप की बीमारी, यानी 'गजनी' फ़िल्म के नायक की तरह थोड़ी-थोड़ी देर में बातों को भूल जाने की बीमारी से ग्रस्त होते हैं। किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी बदलाव में उनका भरोसा नहीं होता और वे किसी कम बुरे की तलाश में हमेशा व्यस्त रहते हैं। **वे भूल जाते हैं कि फ़ासीवाद का ज़हरीला कुकुरमुत्ता हमेशा उदार बुर्जुआ जनवाद के खण्डहर पर उगता है।** वे किसी राहुल गाँधी, मायावती, ममता बनर्जी या लालू प्रसाद यादव के कन्धे पर खड़े होकर फ़ासीवाद को पीछे धकेल देने का मुग़ालता पाले रहते हैं।

एक और श्रेणी ऐसे लोगों की है जो कि फ़ासीवादी पूँजीपति वर्ग और पूँजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों में फ़र्क़ करने में बुरी तरह असफल रहते हैं। अफ़सोस की बात है कि कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट भी इस भोंड़े भौतिकवादी और यान्त्रिक विश्लेषण का शिकार हो जाते हैं। ऐसे लोग सोशल मीडिया पर इस तरह की बातें लिखते रहते हैं : "क्या फ़र्क़ पड़ता है? भाजपा जीते या कांग्रेस, हारेगी तो जनता ही!" "कांग्रेस तो ख़ुद ही फ़ासीवादी है, क्या आप आपातकाल को भूल गये?"; "कांग्रेस की राजनीति के कारण ही तो संघ परिवार बढ़ा है, इसलिए इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि भाजपा जीते या कांग्रेस!" यह समझ न सिर्फ़ अवैज्ञानिक है बल्कि वास्तविकता से बुरी तरह कटी हुई भी है। यह छद्म रैडिकल तेवर से भरी "वामपन्थी" भाषणबाज़ी से ज़्यादा कुछ नहीं है। **फ़ासीवादियों और अन्य प्रकार की दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और साथ ही फ़ासीवादियों और उदार बुर्जुआ वर्ग, मध्यमार्गी बुर्जुआ वर्ग या दक्षिण-मध्य बुर्जुआ वर्ग के बीच अन्तर किया जाना चाहिए।** कांग्रेस एक मध्य-दक्षिणपन्थी पूँजीवादी पार्टी है, जो कि भारतीय बुर्जुआ राजनीति में फ़ासीवादी संघ परिवार के विपरीत ध्रुव की भूमिका अदा करती है। ज़रूरत और तात्कालिक लाभ के लिए कभी यह वाम दिशा की तरफ़ झुकाव वाली नीतियाँ अपनाती रही है तो कभी घोर दक्षिणपंथी रुख अपनाती रही है और लम्बे समय तक भारतीय पूँजीपति वर्ग की सबसे विश्वस्त पार्टी रही है। लेकिन यह फ़ासिस्ट विचार पर गठित खाँटी फ़ासिस्ट पार्टी नहीं है और न ही इसके पीछे कोई घोर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है, जैसाकि भाजपा के साथ है। कांग्रेस के इस विशिष्ट गुण के कारण, भाजपा और कांग्रेस के बीच निश्चित ही फ़र्क़ किया जाना चाहिए क्योंकि इससे फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति के प्रभावी होने पर काफ़ी फ़र्क़ पड़ता है।

इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवादी उभार को समझते समय यह बात दिमाग़ में रखी जानी चाहिए कि इतिहास अपने आपको दुहराता नहीं है। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में ऐसे कई लोग हैं जो भारत में फ़ासीवाद के मौजूदा उभार का विश्लेषण करने के लिए बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी या इटली में फ़ासीवादी उभार से इसकी तुलना करने लगते हैं। तत्कालीन जर्मनी या इटली की और उस समय दुनिया की परिस्थितियों तथा आज के हालात में आये बदलावों को ध्यान में लाये बिना ये लोग बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के फ़ासीवाद के अनुभव और आज के फ़ासीवादी उभार के गुणों का मिलान करने लग जाते हैं और कई गुणों का मिलान न होने पर ऐलान कर देते हैं कि मौजूदा फ़ासीवादी उभार पर्याप्त रूप में फ़ासीवादी नहीं है, या अर्द्धफ़ासीवादी है, या अभी पूरी तरह से फ़ासीवादी नहीं हुआ है, आदि-आदि। ये लोग इस मोटी-सी बात को नहीं समझ पाते कि केवल क्रान्तिकारी विचारधारा व राजनीति ही इतिहास से सबक लेकर अपने को नहीं बदलते बल्कि प्रतिक्रियावादी विचारधारा और राजनीति भी अपने ऐतिहासिक अनुभवों की समीक्षा-समाहार करते हैं, उससे सीखते हैं और अपनी रणनीतियों में बदलाव लाते हैं। ऐसे भी लोग हैं जो कहते हैं कि भारत में चूँकि अभी संसदीय लोकतन्त्र क़ायम है, इसलिए मोदी सरकार को फ़ासीवादी सरकार नहीं माना जा सकता है। कुछ तो यह भी कहते हैं कि भारतीय संविधान के "प्रगतिशील" और "जनवादी" चरित्र के कारण भारत में फ़ासीवाद आ ही नहीं सकता है! ऐसे तर्क के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा है। ऐसे लोग इतिहास की गति समझ पाने में असमर्थ हैं।

ज़ाहिर है कि मोदी का फ़ासीवाद हूबहू हिटलर-मुसोलिनी का फ़ासीवाद नहीं हो सकता। भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश का आज का फ़ासीवाद बीसवीं शताब्दी के जर्मनी और इटली का फ़ासीवाद नहीं हो सकता। भारतीय पूँजीवाद, जो साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार है, यह युद्ध द्वारा विश्व बाजार पर कब्जे के मंसूबे नहीं पाल सकता, ज़्यादा से ज़्यादा अपने कमजोर पड़ोसियों को दबाने-डराने का काम कर सकता है। **इसका मुख्य निशाना देश की आम मेहनतकश आबादी है और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों को यह दोयम दर्जे का नागरिक बनाने की कोशिश कर रहा है। मजदूरों और आम मेहनतकश आबादी को यह लोहे के हाथों से कुचलने का काम करेगा। रही-सही ट्रेड यूनियन गतिविधियों पर भी अंकुश लगायेगा। पिछले चार वर्ष में इसने संसदीय जनवाद को काफ़ी हद तक महज़ रस्मी बना दिया है और अगर यह दुबारा सत्ता में आया तो संसद तथा विभिन्न संवैधानिक संस्थाएँ नाममात्र के लिए रह जायेंगी और जनता के रहे-सहे जनवादी अधिकार भी छीन लिये जायेंगे। लेकिन अगर मोदी की अगुवाई में संघी फ़ासीवादी दिल्ली की गद्दी तक दुबारा नहीं पहुँच पाये, तो भी एक धुर प्रतिक्रियावादी, मुस्लिम-विरोधी, दलित-विरोधी, स्त्री-विरोधी, कम्युनिस्ट-विरोधी सामाजिक आन्दोलन के रूप में भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य पर हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी लहर का वजूद बना रहेगा। पूँजीवाद ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की तरह इसे बनाये रखेगा, ताकि आगे कभी भी इसका इस्तेमाल किया जा सके।**

इस नवफ़ासीवादी लहर का मुकाबला न तो कुछ पैस्सिव किस्म की बौद्धिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से किया जा सकता है, न ही 'सर्वधर्मसमभाव' की अपीलों से। यह केवल संसदीय चुनाव के दायरे में जीत-हार का सवाल भी नहीं है। सत्ता में न रहते हुए भी ये फ़ासीवादी जनता को बाँटने की साज़िशें और दंगे भड़काने का खूनी खेल जारी रखेंगे। जो सच्चे सेक्युलर बुद्धिजीवी हैं, उन्हें अपनी आरामगाहों ओर अध्ययन कक्षों से बाहर आकर, लगातार, पूरे समाज में और मेहनतकश तबकों में जाना होगा, तरह-तरह के उपक्रमों से धार्मिक कट्टरपन्थ के विरुद्ध प्रचार करना होगा, साथ ही जनता को उसकी जनवादी माँगों पर लड़ना सिखाना होगा, मज़दूरों को नये सिरे से जुझारू संगठनों में संगठित होने की शिक्षा देनी होगी, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के ऐतिहासिक मिशन से उन्हें परिचित कराना होगा, उन्हें भगतसिंह, राहुल सांकृत्यायन और मज़दूर संघर्षों की गौरवशाली विरासत से परिचित कराना होगा। मज़दूर वर्ग के अगुआ तत्वों और क्रान्तिकारी वाम की कतारों को तृणमूल स्तर पर जनता के बीच ये कार्रवाईयाँ चलाते हुए संघ परिवार के ज़मीनी तैयारी के कामों का प्रतिकार करना होगा। **यह लड़ाई सिर्फ 2019 के चुनावों तक की ही नहीं है। यह एक लम्बी लड़ाई है।**

भाजपा के खराब प्रदर्शन पर तालियाँ पीटने, या फ़ासीवाद को हराने के लिए चुनावी रणनीति को एकमात्र रणनीति के तौर पर देखने के बजाय, हमें एक लम्बी और निर्णायक लड़ाई की तैयारी करनी होगी; इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौजूदा समय हमें अपना काम शुरू करने के लिए एक अच्छा मौक़ा दे रहा है क्योंकि मोदी लहर में गिरावट साफ़ दिखायी दे रही है। लोग नाराज़ हैं, असन्तुष्ट हैं और क्रान्तिकारी प्रचार और उद्वेलन के लिए तैयार हैं। साथ ही, यह भी याद रखा जाना चाहिए कि क्रान्तिकारी शक्तियों को पूँजीवादी चुनावों में भी रणकौशलात्मक भागीदारी करनी चाहिए और सर्वहारा वर्ग का स्वतन्त्र राजनीतिक पक्ष प्रस्तुत करना चाहिए और साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था को उसके असम्भाव्यता के बिन्दु पर पहुँचाना चाहिए। लेकिन यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि समूची फ़ासीवाद-विरोधी रणनीति को चुनावी रणनीति में ही समेट नहीं देना चाहिए। यह न सिर्फ़ नुक़सानदेह होगा, बल्कि आत्मघाती होगा। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों के बीच मज़दूर वर्ग का संयुक्त मोर्चा स्थापित करना और जनसमुदायों के बीच मज़बूत सामाजिक आधार का निर्माण आज कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष दो महत्वपूर्ण और तात्कालिक कार्यभार हैं। **आगे हम किस हद तक सफल होंगे, यह इस बात पर ही निर्भर करता है कि इन दोनों कार्यभारों को किस हद तक पूरा कर पाते हैं।**

ग़रीबों से वसूले टैक्सों के दम पर अमीरों की मौज

हर साल बजट के पहले और उसके बाद भी पूँजीपतियों के संगठन हाय-तौबा मचाते रहते हैं कि टैक्सों के बोझ से उद्योगपतियों-व्यापारियों की कमर टूटी जा रही है और अगर उन्हें और रियायतें नहीं दी गयीं तो देश का विकास ठप्प हो जायेगा। अपनी चीख़-पुकार और धमकियों के दम पर सरकार से वे तमाम तरह की छूटें हासिल करते रहते हैं। दूसरी तरफ़ आम मेहनतकश लोगों पर तरह-तरह से न दिखायी पड़ने वाले टैक्सों का बोझ लादा जाता रहता है। (पूँजीपति हमेशा ऐसी तिकड़में करते आये हैं। देखिए आज से 105 वर्ष पहले लिखा गया लेनिन का लेख।)

ज़्यादातर मध्यवर्गीय लोगों के दिमाग़ में यह भ्रम बैठा हुआ है कि उनके और अमीर लोगों के चुकाये हुए टैक्सों की बदौलत ही सरकारों का कामकाज चलता है। कल्याणकारी कार्यक्रमों या ग़रीबों को मिलने वाली थोड़ी-बहुत रियायतों पर अक़सर वे इस अन्दाज़ में ग़ुस्सा होते हैं कि सरकार उनसे टैक्स वसूलकर लुटा रही है।

सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। हक़ीक़त यह है कि आम मेहनतकश आबादी से बटोरे गये टैक्सों से पूँजीपतियों को मुनाफ़ा पहुँचाने के इन्तज़ाम किये जाते हैं और समाज के ऊपरी तबक़ों को सहूलियतें मुहैया करायी जाती हैं। ग़रीबों के लिए जो कल्याणकारी कार्यक्रम चलते हैं, जिनमें अब लगातार कटौती की जा रही है, उनका ख़र्च भी देशभर की ग़रीब आबादी ही तमाम परोक्ष करों के ज़रिये उठाती है।

टैक्स न केवल बुर्जुआ राज्य की आय का मुख्य स्रोत है बल्कि यह आम जनता के शोषण और पूँजीपतियों को मुनाफ़ा पहुँचाने का एक और ज़रिया भी है। सरकार के ख़ज़ाने में पहुँचने वाले करों का क़रीब तीन-चैथाई हिस्सा आम आबादी पर लगाये गये करों से आता है, जबकि एक चैथाई से भी कम निजी सम्पत्ति और उद्योगों पर लगे करों से। उद्योगों पर लगने वाले कर की वसूली भी आम जनता से ही होती है। इन्हीं टैक्सों से सरकार चलाने का भारी-भरकम ख़र्च भी निकाला जाता है जो वास्तव में पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी ही होती है।

टैक्स मोटे तौर पर दो तरह के होते हैं : प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष करों में मुख्यतः कारपोरेशन कर, आय कर, ब्याज कर, सम्पत्ति कर, उपहार कर, भू-राजस्व आदि होते हैं। मालों और सेवाओं पर वसूले जाने वाले परोक्ष करों में उत्पाद एवं सीमा शुल्क, मनोरंजन कर, सेवा कर, बिजली, पानी, सड़क आदि हर चीज़ के इस्तेमाल पर लिए जाने वाले कर और शुल्क शामिल हैं जिनमें से ज़्यादातर अब जीएसटी के दायरे में आ गये हैं।

भारत में कर राजस्व का भारी हिस्सा परोक्ष करों से आता है। केन्द्र सरकार की कुल कर वसूली का लगभग तीन चैथाई हिस्सा परोक्ष करों से आता है। राज्य सरकारों के कुल कर संग्रह का 90 प्रतिशत से भी ज़्यादा परोक्ष करों से मिलता है। इस तरह केन्द्र और राज्य सरकारों, दोनों के करों को मिलाकर देखें तो कुल करों का क़रीब 80 प्रतिशत परोक्ष कर हैं जबकि सिर्फ़ 20 प्रतिशत प्रत्यक्ष कर।

कुछ लोग तर्क देते हैं कि अमीर या उच्च मध्य वर्ग के लोग ही परोक्ष करों का भी ज़्यादा बोझ उठाते हैं क्योंकि वे उपभोक्ता सामग्रियों पर ज़्यादा ख़र्च करते हैं। पर सच यह है कि लगभग 85 प्रतिशत आम आबादी अपनी रोज़मर्रा की चीज़ों की ख़रीद पर जो कर चुकाती है उसकी कुल मात्रा मुट्ठीभर ऊपरी तबक़े द्वारा चुकाये गये करों से कहीं ज़्यादा होती है। ग़रीब मेहनतकश लोग अपनी ज़रूरत की जो छोटी से छोटी चीज़ भी ख़रीदते हैं, उसकी क़ीमत में टैक्स पहले ही शामिल होता है। उन्हें तो ये टैक्स चुकाने ही चुकाने पड़ते हैं। न तो वे अपने लिए रियायतें माँग सकते हैं और न ही टैक्स चोरी कर सकते हैं।

दूसरी ओर सरकार पूँजीपतियों को तमाम तरह के विशेषाधिकार और छूटें देती है। उन पूँजीपतियों को जो तमाम तरह की तिकड़मों, फर्ज़ी लेखे-जोखे आदि के ज़रिये अपनी कर-योग्य आय का भारी हिस्सा छुपा लेते हैं। इसके लिए वे मोटी तनख्वाहों पर वकीलों और कर विशेषज्ञों को रखते हैं। उसके बाद जितना टैक्स बनता है उसका भुगतान भी वे प्रायः कई-कई साल तक लटकाये रखते हैं और अक़सर उसे पूर्णतः या अंशतः माफ़ कराने में भी कामयाब हो जाते हैं।

आम लोगों को शिक्षा, चिकित्सा, आदि के लिए दी जाने वाली सब्सिडियों के बारे में शोर मचा-मचाकर उनमें भारी कटौती करा दी गयी, लेकिन असलियत यह है कि आज लाखों करोड़ की सब्सिडी उद्योगों को दी जाती है। इसके अलावा आम लोगों से उगाहे गये करों से पूँजीपतियों के लाभार्थ अनुसन्धान कार्य होते हैं, उनके प्रतिनिधिमण्डलों के विदेशी दौरे कराये जाते हैं, मुख्यतः उनकी सुविधा के लिए सड़कें और रेलें बिछायी जाती हैं, रेलों में माल ढुलाई पर भारी छूट दी जाती है, मिट्टी के मोल ज़मीनें मुहैया करायी जाती हैं, आदि। नये उद्योग लगाने पर अक़सर कुछ साल तक उनके सभी टैक्स माफ़ कर दिये जाते हैं। इस सबके बाद उन्हें जो कर चुकाने पड़ते हैं, उसकी वसूली भी वे चीज़ों के दाम बढ़कर आम जनता से कर लेते हैं।

पिछले तीन दशकों के दौरान उदारीकरण की नीतियों के तहत एक ओर जनता पर करों का बोझ तमाम तिकड़मों से बढ़ाया गया, दूसरी ओर मीडिया में आक्रामक और झूठ से भरे प्रचार से ऐसा माहौल बनाया गया मानो देश की आर्थिक दुरवस्था का कारण शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि में दी जाने वाली सब्सिडी ही हो। लेकिन इसकी क़ीमत पर हर बजट में देशी-विदेशी पूँजीपतियों को तरह-तरह की रियायतें और छूटें परोसी जाती रही हैं। इस दौरान पूँजीपतियों-व्यापारियों की दौलत में सैकड़ों-हज़ारों गुना की बढ़ोत्तरी हो गयी, देश में अरबपतियों की संख्या एक लाख और खरबपतियों की संख्या एक सौ पार कर गयी है लेकिन उनसे वसूले जाने वाले प्रत्यक्ष करों में महज़ कुछ प्रतिशत की ही बढ़ोत्तरी हुई है।

सरकारी विशेषज्ञ और बुर्जुआ कलमघसीट दलील देते रहते हैं कि सरकार का काम सरकार चलाना है, स्कूल, रेल, बस और अस्पताल चलाना नहीं, इसलिए इन सबको निजी पूँजीपतियों के हाथों में सौंप देना चाहिए। दूसरी ओर सरकार दोनों हाथों से आम लोगों से टैक्स वसूलने में लगी हुई है। इसके उलट क्या यह नहीं होना चाहिए कि मज़दूरों और ग़रीब कामगारों को लूटकर पैसे में लोट रहे धनपशुओं पर भारी टैक्स लगाकर उस धन से समूची आम आबादी के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात आदि सुविधाएँ मुफ़्त उपलब्ध करायी जायें? मगर यह काम पूँजीपतियों की चाकर सरकार तो करने से रही।

- सत्यप्रकाश

भारी महँगाई और पूँजीपतियों की "कठिन" ज़िन्दगी

– लेनिन

गुज़र-बसर करने का ख़र्च दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा है। पूँजीपतियों के संघ लगातार क़ीमतें बढ़ा-बढ़ाकर करोड़ों-अरबों की कमाई कर रहे हैं, जबकि किसानों की भारी आबादी ज़्यादा से ज़्यादा बर्बादी के गर्त में डूबती जा रही है और मज़दूरों के परिवारों के लिए दो वक़्त की रोटी जुटाना मुश्किल होता जा रहा है और अक्सर उन्हें भूखे रहना पड़ता है और न्यूनतम बुनियादी ज़रूरतों को भी छोड़ना पड़ता है।

हमारे करोड़पति उद्योगपतियों का मुखपत्र प्रोमीशलेनोस्त इ तोरगोव्ल्या बढ़ती महँगाई के बारे में निम्नलिखित आँकड़े देता है। तथाकथित मूल्य सूचकांक, जो एक निर्धारित संख्या में प्रमुख खाद्य वस्तुओं के दामों को जोड़कर बनता है, पिछले कुछ वर्षों से लगातार बढ़ रहा है। अप्रैल के आँकड़े इस प्रकार हैं :

वर्ष	मूल्य सूचकांक
1908	2,195
1909	2,197
1910	2,416
1911	2,554
1912	2,693
1913	2,729

पिछले छह वर्षों में, दामों में 2195 से 2729 तक की यानी पूरे 24 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है! पूँजीपतियों के गँठजोड़ों द्वारा मेहनतकश अवाम को, और ख़ासकर मज़दूरों को लूटने-निचोड़ने में अद्भुत "तरक़्क़ी" हुई है।

लेकिन पूँजीपति – उपरोक्त पत्रिका में भी और सरकार की कृपालु मान्यता से चलने वाली अपनी अनगिनत सोसायटियों और एसोसिएशनों में भी – लगातार यह रोना रोते रहते हैं कि उद्योग और व्यापार पर टैक्सों का किस क़दर अनुचित बोझ लदा है!

कैसी मज़ाक़िया बात है, लेकिन मज़दूरों को इस पर हँसी नहीं आती।

बेचारे ग़रीब करोड़पति उद्योगपतियों ने शहरी अचल सम्पत्ति पर लगने वाले टैक्सों के बारे में एक सरकारी दस्तावेज़ के निम्नलिखित आँकड़े प्रकाशित किये हैं।

1910 में ऐसी सम्पत्ति से होने वाली आमदनी 23.9 करोड़ रूबल आँकी गयी थी (बेशक, इसका आकलन अफ़सरों द्वारा नौकरशाहाना ढंग से किया गया था, और हम कल्पना कर सकते हैं कि कितने करोड़ की सम्पत्ति ओह-बेचारे व्यापारी वर्ग ने छुपा ली थी)। 1912 में, यानी सिर्फ़ दो वर्ष बाद, शहरी अचल सम्पत्ति से आय का आकलन 50 करोड़ रूबल था (केवल रूस में, पोलैण्ड राज्य को छोड़कर)।

यानी, दो वर्षों में, शहरी अचल सम्पत्ति से शुद्ध आय 25 करोड़ रूबल से ज़्यादा बढ़ गयी। इससे अन्दाज़ा लगता है कि किसानों और मज़दूरों की बेहिसाब तंगहाली, दरिद्रता और भुखमरी के दम पर करोड़ों छोटी-छोटी धाराओं से बनी दौलत की नदी किस तरह पूँजीपतियों की जेबों में समा रही है।

"आजकल गुज़र-बसर का भारी ख़र्च" मुट्ठीभर पूँजीपतियों की अभूतपूर्व कमाई तथा मेहनतकश जनता की ग़रीबी, बर्बादी और लूट के सिवा और कुछ नहीं है।

बेचारे पूँजीपतियों पर दया आती है जो बेहद "अनुचित" टैक्सों की शिकायत करते हैं। ज़रा सोचिए : उन्हें अपनी शुद्ध आय का 6 प्रतिशत तक दे देना पड़ता है। 1910 में उन्हें (केवल रूस में, पोलैण्ड को छोड़कर) 1.4 करोड़ रूबल दे देने पड़े थे और 1912 में 2.98 करोड़ रूबल।

और इस तरह, दो वर्ष में, इन लुटे-पिटे करोड़पतियों पर टैक्स में कुल बढ़ोत्तरी हुई लगभग 1.6 करोड़ रूबल।

मज़दूर साथियो, आपका क्या ख़याल है : जब शुद्ध आय 24 करोड़ से बढ़कर 50 करोड़ हो जाये, यानी दो वर्ष में 26 करोड़ बढ़ जाये, तो क्या दस या बीस करोड़ रूबल टैक्स नहीं वसूला जाना चाहिए था? क्या मज़दूरों और ग़रीब किसानों को निचोड़कर बटोरे गये 26 करोड़ के अतिरिक्त मुनाफ़े में से, स्कूलों और अस्पतालों के लिए, भूखों की मदद के लिए और मज़दूरों के बीमा के लिए, कम से कम बीस करोड़ नहीं ले लिये जाने चाहिए थे?

(17 मई, 1913)

उत्तर प्रदेश में सरकारी कर्मचारियों के सिर पर लटकती छँटनी की तलवार

सरकारें रोज़गार पैदा तो नहीं कर पा रही हैं, लेकिन तरह-तरह से रोज़गारशुदा लोगों को भी काम से बाहर करने की तिकड़मों में लगी हुई हैं। अब उत्तर प्रदेश की योगी सरकार 50 वर्ष से ऊपर कर्मचारियों को अनिवार्य सेवानिवृत्ति देने की तैयारी कर रही है। हाल में अतिरिक्त मुख्य सचिव मुकुल सिंह की ओर से जारी सरकारी आदेश में कहा गया है, "सभी विभागाध्यक्षों को अनिवार्य सेवानिवृत्ति देने के लिए 50 वर्ष और उससे ऊपर के कर्मचारियों की जाँच 31 जुलाई तक पूरी कर लेनी चाहिए। लागू करने की कट-ऑफ़ तारीख़ 31 मार्च 2018 है।" यह आदेश सरकार के सभी प्रमुख सचिवों और सचिवों को भेजा गया है।

कहा जा रहा है कि काम न करने वाले और भ्रष्ट कर्मचारियों को बाहर करने के लिए यह आदेश लाया जा रहा है। लेकिन पिछले वर्षों के दौरान ऐसे आदेशों की गाज किन कर्मचारियों पर गिरी है इसे जानने वाले अच्छी तरह समझते हैं कि वास्तव में भ्रष्ट और निकम्मे कर्मचारियों पर इससे कोई विशेष आँच नहीं आयेगी, लेकिन किसी न किसी रूप में कमज़ोर, अरक्षित कर्मचारियों को जबरन रिटायर करके छँटनी की योजना पर अमल किया जायेगा। आदेश में यह भी कहा गया है कि 50 वर्ष से अधिक का कोई भी कर्मचारी ख़ुद भी रिटायरमेण्ट के लिए आवेदन दे सकता है।

पीडब्ल्यूडी विभाग के प्रमुख वी.के. सिंह के मुताबिक़ बाहर किये जाने वाले कर्मचारियों की सूची तैयार की जा रही है और काम न करने वाले कर्मचारियों को रिटायरमेण्ट के लिए तीन महीने का समय दिया जायेगा। स्वाभाविक तौर पर, भाजपा ने इस फ़ैसले का ज़ोर-शोर से स्वागत और समर्थन किया है।

इनसे पूछा जाना चाहिए कि अगर कर्मचारी काम नहीं करते और भ्रष्ट हैं तो उनके विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए, और गम्भीर मामलों में नौकरी से बर्खास्त करने के लिए भी तमाम नियम पहले से बने हुए हैं। फिर उनके तहत कार्रवाई क्यों नहीं की जाती? ऐसे तमाम नियमों-प्रावधानों के होते हुए भी निकम्मे और भ्रष्ट कर्मचारी और अफ़सर तमाम सरकारी विभागों में बरसों-बरस न केवल जमे ही नहीं रहते बल्कि तरक़्क़ी पाने में भी आगे रहते हैं। इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है? क्या सबसे पहले इन भ्रष्ट और निकम्मे कर्मचारियों और अफ़सरों के विरुद्ध कार्रवाई न करने और उन्हें संरक्षण देने वाली सरकार के विरुद्ध कार्रवाई नहीं होनी चाहिए? जिनके राज में ऑक्सीजन के अभाव में सैकड़ों बच्चे मौत के मुँह में समा जाते हैं, आये दिन सड़क पर गुण्डों की भीड़ हत्याएँ करते घूमती है, बेरोज़गारों की तादाद दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है और स्कूलों व अस्पतालों में लाखों पद ख़ाली पड़े हैं, क्या उनके निकम्मेपन और आपराधिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध सबसे पहले कार्रवाई नहीं होनी चाहिए?

देशभर में लगातार जारी है जातिगत उत्पीड़न और हत्याएँ

बबन ठोके

जाति व्यवस्था और जातिगत उत्पीड़न हमारे समाज के चेहरे पर एक बदनुमा दाग है और यह एक त्रासदी है कि ख़त्म होने के बजाय यह और ज़्यादा सड़ाँध मार रही है। 10 जून को जलगाँव (महाराष्ट्र) जिले के वाकाडी गाँव में तीन दलित (मातंग जाति के) नौजवानों को कुएँ में स्नान करने के कारण ना सिर्फ बुरी तरह मारा-पीटा गया बल्कि उसके बाद नंगा करके पाहूर गाँव में घुमाया गया व वीडियो भी बनाकर वायरल किया गया। इससे पहले लातूर जिले के रूद्रवाडी गाँव में एक नवविवाहित जोड़े को मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ने के कारण पीटा गया था व उसके बाद गाँव के सभी मातंग परिवारों का आर्थिक बहिष्कार किया गया था। ज़्यादातर लोग मज़दूरी करने वाले थे व पूरी तरह ऊँची जाति के लोगों पर निर्भर थे इसलिए आर्थिक-सामाजिक बहिष्कार ने उनको गाँव छोड़ने पर मजबूर कर दिया। यह भी गौर करने वाली बात है कि उस गाँव की सरपंच भी मातंग जाति से थी पर जातिगत कहर से वो भी नहीं बच पायीं।

सिर्फ महाराष्ट्र से ही नहीं बल्कि पूरे देश से इस तरह की बर्बर घटनाएँ सामने आ रही है। 25 मई को तमिलनाडु के कचनाथम गाँव में तीन दलितों की हत्या कर दी गयी व दर्जनों को घायल कर दिया। इन दलितों का कसूर ये था कि ये उच्च जातीय लोगों पर आर्थिक रूप से निर्भर नहीं थे व कई लोग अच्छी नौकरियों में भी चले गये थे। इससे उच्च जाति वालों के जातिगत अहं को चोट लगी और उन्होने हमला कर दिया। गुजरात के अहमदाबाद से 110 किमी दूर एक क़स्बे में 13 साल के नौजवान को इसलिए मारा-पीटा गया कि उसने अच्छे कपड़े व जूते पहन रखे थे। मारने-पीटने वाले उच्च जातीय नौजवानों का कहना था कि वह ऊँची जाति के लोगों की तरह दिखना चाहता है इसलिए उसे सबक सिखाना जरूरी है। अभी हाल ही में देश के राष्ट्रपति कोविन्द के साथ भी मन्दिर में भेदभाव की बात सामने आयी थी। हालाँकि देश के सबसे ताक़तवर व्यक्ति और तीनों सेनाओं के अध्यक्ष राष्ट्रपति ने इस बात का खुद ज़्यादा विरोध नहीं किया।

पिछले कुछ दशकों की घटनाओं का अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि इन तमाम घटनाओं में अपराधी ज्यादातर ओबीसी किसान जातियों से आते हैं। गाँवों में दलित आबादी अधिकांशत: बड़ी किसान जातियों के यहाँ मज़दूरी करती है। जब दलित आबादी अपनी मज़दूरी बढ़ाने की माँग करती है तो इस तरह की घटनाएँ सामने आती हैं। कई जगहों पर जहाँ दलित आबादी शहरों में नौकरियाँ वगैरह करके थोड़ी अच्छी स्थिति में आ गयी वहाँ उच्च जाति के लोग इसलिए दमन-उत्पीड़न करते हैं कि इनकी हिम्मत सर उठाकर जीने की कैसे हो गयी। इसका एक दुखद उदाहरण हरियाणा के मिर्चपुर की घटना है जहाँ ताराचन्द नामक एक दलित बुजुर्ग व उसकी विकलांग बेटी को अप्रैल 2010 में ज़िन्दा जला दिया गया था।

आज भारत असंख्य जातियों में बँटा है। हर जाति के पास अपने से नीचे देखने के लिए एक जाति है। देश में जाति आधारित अनगिनत संगठन हैं। हर वक़्त देश में दलितों के प्रति हिंसा जारी रहती है। **राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार हर दिन देश में तीन दलित महिलाओं के साथ बलात्कार होता है, हर दिन दो दलितों की हत्या होती है।** उच्च शिक्षण संस्थानों में दलित छात्रों के प्रति होने वाला भेदभाव कितना है, ये इसी तथ्य से पता चलता है कि 2007 से उत्तर भारत व हैदराबाद के विश्वविद्यालयों में हुई 25 आत्महत्याओं में 23 दलित छात्रों की थी।

आज़ादी के बाद सत्ता में आये भूरे अंग्रेजों ने जाति का इस्तेमाल हर बार जनअसन्तोष को दबाने के लिए किया है। 1990 के दशक में जब उदारीकरण और निजीकरण के माध्यम से देश की जनता से बहुत कुछ छीना जा रहा था तब मण्डल कमीशन की राजनीति के माध्यम से पूरे समाज की जातीय गोलबन्दी कर दी गयी थी। **आज जब आर्थिक संकट चरम पर है और सरकारी नौकरियां लगभग खत्म हो रही हैं तब भी जाट, गुर्जर, मराठा, पटेल आदि को जाति के आधार पर एकजुट कर शासक वर्ग अपना दाँव खेल रहा है।** महाराष्ट्र में पिछले दो-तीन सालों में जो मोर्चाबन्दी जाति के नाम पर हुई है उसका भयंकर नुकसान आगे आने वाले समय में यहाँ की आम जनता को उठाना पड़ेगा।

यूँ तो सभी सरकारें जातिगत भेदभाव का फायदा उठाकर जनता को आपस में लड़ाती हैं ताकि लोग अपने अधिकारों की आवाज ना उठा पायें पर भाजपा इस मामले में सबसे आगे है। भाजपा को नियंत्रित करने वाली आरएसएस जाति व्यवस्था में घोषित तौर पर विश्वास करती है। यही कारण है कि सत्ता में आने के बाद भाजपा ने आरक्षण को अघोषित तौर पर ख़त्म करने की तैयारी कर ली है व सुप्रीम कोर्ट के माध्यम से एससीएसटी एक्ट को कमज़ोर करने पर तुली है। इसलिए आज जाति व्यवस्था के विरुद्ध कोई भी आन्दोलन इन तमाम चुनावबाज़ दलों के विरुद्ध आम मेहनतकश जनता की एकता से ही आगे बढ़ सकता है।

महाराष्ट्र व देश के अन्य इलाकों में जो बर्बर दलित उत्पीड़न की हालिया घटनाएँ हुई हैं उसके विरुद्ध सभी इंसाफ़पसन्द लोगों को सड़क पर उतरना होगा ताकि भविष्य में ऐसी घटनाओं को होने से रोका जा सके। सभी मज़दूर भाइयों और बहनों को भी ये याद रखना होगा कि **अगर तुम दलित मेहनतकश साथियों को ग़ुलाम समझोगे तो तुम स्वयं भी पूँजी की ग़ुलामी करते रहने के लिए अभिशप्त होगे!** अन्य सभी जातियों के मेहनतकश मज़दूर साथियों, नौजवानों को ये आज विशेष तौर पर समझना होगा कि जब तक मज़दूर वर्ग जाति के नाम पर बँटा रहेगा तब तक पूरा मज़दूर वर्ग बदहाल रहेगा। आज नौजवानों को आरक्षण के नाम पर आपस में लड़वाया जा रहा है। एक-एक पद के लिए लाखों आवेदन आ रहे हैं। अब उस पद पर आरक्षण हो या ना हो, बाक़ी लाखों नौजवानों को तो बेरोज़गार ही घूमना है। ऐसे में आरक्षण ख़त्म करवाने, थोड़ा आरक्षण इस या उस जाति का बढ़ा देने जैसे मुद्दों पर मोर्चे निकालकर अपनी ऊर्जा बर्बाद नहीं करनी चाहिए बल्कि सरकार से समान शिक्षा और पक्के रोज़गार की गारण्टी की लड़ाई लड़नी चाहिए।

मेहनतकश दलित साथियों को शहीदे-आज़म भगतसिंह के ये शब्द याद रखने होंगे, "उठो, अपनी शक्ति पहचानो! संगठनबद्ध हो जाओ! असल में स्वयं कोशिश किये बिना कुछ भी न मिल सकेगा। स्वतन्त्रता के लिए स्वाधीनता चाहने वालों को यत्न करना चाहिए— कहावत है, 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते।' अर्थात् संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इंकार करने की जुर्रत नहीं कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक न बनो। दूसरों के मुँह की ओर मत ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झाँसे में मत फँसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है।" ('अछूत समस्या', भगतसिंह) शहीदे-आज़म के ये शब्द मानो आज के लिए ही लिखे गये हों। आज इसी कार्यदिशा को समझने की ज़रूरत है। साथ ही ये भी समझने की ज़रूरत है कि समाज में मौजूद ऐसी घटिया सोच के ख़िलाफ़ राष्ट्रपति कोविन्द जैसे ताक़तवर दलित कभी संघर्ष नहीं करेंगे। भले ही जातिगत अपमान का सामना सभी दलितों (यहां तक कि नौकरशाहों, मंत्रियों और ऊपर पहुँच चुके अन्य दलितों) को करना पड़ता है पर जातिगत उत्पीड़न के बर्बरतम रूपों का सामना तो मेहनतकश दलितों को ही करना पड़ता है। इसलिए जुझारू संघर्ष मेहनतकश दलितों को ही खड़ा करना होगा और इस लड़ाई में उन्हें अन्य जातियों के ग़रीबों को भी शामिल करने की कोशिश करनी होगी। ये रास्ता लम्बा है क्योंकि जाति व्यवस्था के हज़ारों वर्षों के इतिहास ने ग़रीबों में भी भयंकर जातिगत विभेद बनाये रखा है पर इसके अलावा कोई अन्य रास्ता भी नहीं है। जातिगत आधार पर संगठन बनाकर संघर्ष करने की बजाय सभी जातियों के ग़रीबों को एकजुट कर जाति-विरोधी संगठन खड़े करने होंगे तभी इस बदनुमा दाग से छुटकारा पाने की राह मिल सकती है।

(मराठी से हिन्दी अनुवाद – सत्यनारायण)

अम्बानी का जियो इंस्टीट्यूट - पैदा होने से पहले ही मोदी ने तोहफ़ा दे दिया!

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय द्वारा 8 जून 2018 आईआईएससी बेंगलुरु, आईआईटी दिल्ली, आईआईटी बॉम्बे, बिरला इंस्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी पिलानी सहित 6 संस्थानों को उत्कृष्ट संस्थान का दर्जा देने की घोषणा की गयी। मन्त्रालय ने जियो इंस्टीट्यूट को भी उत्कृष्ट संस्थान का दर्जा प्रदान कर दिया जिसका अभी न तो कहीं कोई अस्तित्व है और न ही कोई ब्लूप्रिण्ट तैयार है। सरकार के इस फ़ैसले का जब चौतरफ़ा विरोध होने लगा तो मन्त्रालय द्वारा इसकी सफ़ाई में जो तर्क पेश किया गया, वह असल में पुरे मुद्दे को घोल-मठ्ठा बना दे रहा है। प्रकाश जावेडकर का कहना है कि जियो इंस्टीट्यूट को 'इंस्टीट्यूट ऑफ़ एमिनेन्स' के लिए ग्रीनफ़ील्ड कैटेगरी में चुना गया है। यह एक ऐसी कैटेगरी है, जिसमें उन संस्थानों को शामिल किया है, जो अभी अस्तित्व में नहीं हैं और जल्द ही बनने जा रहे हैं। ग्रीनफ़ील्ड कैटेगरी के लिए आये आवेदनों में 4 मापदण्डों के आधार पर जियो इंस्टीट्यूट को उत्कृष्ट संस्थान का दर्जा देने के लिए चुना गया। 1. संस्थान बनाने के लिए भूमि की उपलब्धता। 2. बहुत उच्च योग्यता। 3. संस्थान बनाने के लिए आवश्यक फ़ण्ड की उपलब्धता। 4. सालाना लक्ष्य और कार्य योजना का होना।

जब तक कोई संस्थान भौतिक तौर पर अस्तित्व में रहेगा ही नहीं तब योग्यता और सालाना लक्ष्य और कार्य योजना की बात करना सही मायने में ख़यालीपुलाव पकाने की बात करना होगा, जोकि भाजपा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इससे जुड़े हुए तमाम संगठन पिछले 4 सालों से ख़ुद तो पका ही रहे हैं, बाक़ी देश की जनता से भी यही आशा कर रहे हैं। इस फ़ैसले से मोदी सरकार ने एक बार फिर अम्बानी के प्रति अपनी वफ़ादारी को सिद्ध कर दिया ताकि आने वाले 2019 के आम चुनाव में ज़्यादा से ज़्यादा फ़ण्ड इकट्ठा किया जा सके।

असल मामला कुछ और ही है जिसको लोगों के सामने नहीं आने दिया जा रहा है। पूँजीवादी अर्थिक संकट के इस दौर में जब हर सेक्टर लगभग सन्तृप्त हो चुका है और मुनाफ़े की दर में लगातार हो रही गिरावट की वजह से पूँजीपति वर्ग परेशान है, तब पूँजी निवेश के लिए अलग-अलग सेक्टरों की तलाश की जा रही है। लेकिन पूँजी की प्रचुरता के कारण नये सेक्टर भी बहुत जल्दी सन्तृप्त हो जा रहे हैं। ऐसे में पूँजीपति वर्ग सरकार पर दबाव बनाती है कि शिक्षा, चिकित्सा जैसे बुनियादी चीज़ों को भी बाज़ार के हवाले कर दिया जाये। जिओ इंस्टीट्यूट खोलने के पीछे की असली बात यह है कि रिलायंस के द्वारा कारपोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी के मद का जो पैसा समाज कल्याण के लिए ख़र्च किया जाना चाहिए, उसे भी पूँजी के रूप में निवेश करके मुनाफ़ा पीटना चाहता है। आगे बढ़ने से पहले यह जान लेते हैं कि कारपोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी क्या है?

पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफ़े की अंधी हवस के लिए पूँजीपति जहाँ एक तरफ़ कल-कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों के श्रम को लूटते हैं, वही दूसरी तरफ़ प्राकृतिक संसाधनों का भी ज़बरदस्त दोहन करते हैं। बड़ी-बड़ी दैत्याकार कम्पनियों से निकलने वाले कचरे और धुएँ से पूरा पर्यावरण तबाह होता जा रहा है। पर्यावरण की इस बर्बादी की वजह से टीबी, कैंसर से लेकर तमाम तरह की त्वचा सम्बन्धी बीमारियाँ बहुत आम हो जाती हैं। इस लूट से लोगों का ध्यान भटकाने के लिए और तमाम कम्पनियों की छवि लोगों के बीच सुधारने के लिए पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करने वाली सरकारों ने भारत सहित पूरे विश्व में कम्पनियों के लिए यह अनिवार्य बना दिया गया कि वे अपनी मुनाफ़े का कम से कम 2% हिस्सा समाज कल्याण में ख़र्च करें। इसे ही कारपोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी (सीएसआर) कहा गया। भारत में कारपोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी (सीएसआर) के नियम 1 अप्रैल 2014 से लागू हैं। इसके अनुसार जिन कम्पनियाँ की सालाना कुल आय 500 करोड़ रुपये या सालाना आय 1000 करोड़ की या सालाना लाभ 5 करोड़ का हो तो उनको सीएसआर पर ख़र्च करना ज़रूरी होता है। यह ख़र्च तीन साल के औसत लाभ का कम से कम 2% होना चाहिए। कम्पनी मामलों के मन्त्रालय के आँकड़ों के अनुसार 2015-16 में 5097 कम्पनियाँ शामिल हैं जिनमें से सिर्फ़ 2690 ने कारपोरेट सोशल रेस्पोंसिबिलिटी गतिविधियों पर ख़र्च किया था। नियमों के अनुसार यह पैसा निम्न मदों में ख़र्च किया जाना चाहिए :

1. भूख, ग़रीबी और कुपोषण को ख़त्म करना; 2. शिक्षा को बढ़ावा देना; 3. मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य सुधारना; 4. पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित करना; 5. सशस्त्र बलों के लाभ के लिए उपाय; 6. खेल गतिविधियों को बढ़ावा देना; 7. राष्ट्रीय विरासत का संरक्षण; 8. प्रधानमन्त्री राष्ट्रीय राहत कोष में योगदान; 9. स्लम क्षेत्र का विकास और 10. स्कूलों में शौचालय का निर्माण।

सुनने में ये बातें काफ़ी अच्छी लगती हैं, लेकिन सच्चाई इसके ठीक उलट है। पर्यायवरण को दूषित कर रही वेदान्ता ग्रुप की कॉपर स्टरलाइट कम्पनी के खिलाफ़ जब तूतीकोरिन में जनता सड़कों पर उतरी तो निशानेबाजों को बुलाकर आन्दोलन के नेताओं की हत्या करा दी गयी। इन कम्पनियों को न ही पर्यायवरण की चिन्ता है, न ही लोगों की ज़िन्दगी की। वास्तव में, तमाम फ्रेंचाइजी और फ़ाउण्डेशन के माध्यम से शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र में पैसा लगाकर भी अकूत मुनाफ़ा कमाने का एक पूरा धन्धा विकसित हो चुका है।

रिलायंस इण्डस्ट्रीज ने अपने सीएसआर फ़ण्ड के इस्तेमाल के लिए रिलायंस फ़ाउण्डेशन, रिलायंस लाइफ़ साइंस, रिलायंस सोलर आदि कई संस्था बनायी हैं, जिनमें से अधिकांश की कमान अम्बानी ने अपनी पत्नी, बेटे या बेटी को दे रखी है। इनमें से भी अधिकांश सीएसआर फ़ण्ड का इस्तेमाल रिलायंस फ़ाउण्डेशन करती है। साल 2017-18 के दौरान रिलायंस का कुल टर्नओवर 3 लाख 15 हज़ार 357 करोड़ का था जिसमें कर आदि का भुगतात करने के बाद उसे शुद्ध मुनाफ़ा 33,612 करोड़ रुपये का हुआ। कम्पनी क़ानून के अनुसार शुद्ध मुनाफ़े का 2% हिस्सा सीएसआर में जाना चाहिए जो लगभग 745 करोड़ रुपये बैठता है। रिलायंस इण्डस्ट्रीज ने 2016-17 में 132 करोड़ रुपये ग्रामीण क्षेत्रों में इन्फ्रास्ट्रक्चर में, 267 करोड़ रुपये चिकित्सा के क्षेत्र में, 221 करोड़ रुपये शिक्षा के क्षेत्र में और 24 करोड़ रुपये खेल पर ख़र्च किया था।

2017-18 के आँकड़ों के अनुसार कम्पनी ने स्वास्थ्य पर किये जाने वाले ख़र्च को 267 करोड़ रुपये से घटाकर 148 करोड़ रुपये कर दिया, लेकिन शिक्षा पर किये जाने वाले ख़र्च को 221 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 371 करोड़ रुपये कर दिया। अब यही रिलायंस फ़ाउण्डेशन, जिसकी अध्यक्ष नीता अम्बानी हैं, जियो यूनिवर्सिटी बनायेगा, जिसे पहले ही भाजपा सरकार ने उत्कृष्ट संस्थान का तमगा दे दिया है। यह यूनिवर्सिटी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काम करेगी, जहाँ पढ़ने के लिए आम जनता के बेटे-बेटियाँ मोटी रक़म फ़ीस के रूप में चुकायेंगे जो मुनाफ़े के रूप में वापस रिलायंस के पास पहुँच जायेगा। ऊपर से अम्बानी के "प्रधान सेवक" मोदी की सरकार ने उसे जन्म से पहले ही 1000 करोड़ का अनुदान पाने वालों की सूची में डाल दिया है।

– अविनाश

चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मदिवस (23 जुलाई) के अवसर पर

आज़ाद ने मज़दूरों और ग़रीबों के जीवन को नज़दीक से देखा था और आज़ादी के बाद मज़दूरों के राज की स्थापना उनका सपना था

महान युवा क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के कमाण्डर चन्द्रशेखर आज़ाद का जीवन अन्याय, ज़ुल्म और शोषण पर टिकी व्यवस्था में जी रहे हर उस नौजवान के लिए प्रेरणा का स्रोत है जो इस व्यवस्था में घुटन महसूस करता है और जिसके दिल में बग़ावत की चिंगारी सुलगती है। खासकर मेहनतकशों के युवा बेटे-बेटियों के लिए, जिनके लिए सिर्फ़ इंक़लाब ही एकमात्र उम्मीद है, आज़ाद का व्यक्तित्व रास्ता दिखाने वाली मशाल की तरह है।

आज़ाद का जन्म एक ग़रीब परिवार में हुआ था और उन्हें प्राथमिक शिक्षा पूरी करने का मौक़ा भी नहीं मिल सका था। इस मामले में वे हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी (एच.आर.ए.) और हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एच.एस.आर.ए.) के अन्य क्रान्तिकारियों से भिन्न थे जो अधिकांशतः मध्यवर्ग से आये शिक्षित नौजवान थे। इसी वजह से उनके बारे में बहुतेरे लोगों के मन में यह भ्रान्ति है कि उन्हें क्रान्तिकारी आन्दोलन के सैद्धान्तिक पहलुओं की कम समझ थी या इसमें उनकी कोई भूमिका नहीं थी। उनके सांगठनिक कौशल और प्रचण्ड साहस की तो चर्चा होती है पर उनकी वैचारिक प्रखरता को भुला दिया जाता है। भगतसिंह और आज़ाद के क्रान्तिकारी साथियों के संस्मरणों से पता चलता है कि वे महज़ सेनापति ही नहीं, बल्कि एच.एस.आर.ए. के नेतृत्वकारी मण्डल के एक प्रमुख भागीदार थे। भगतसिंह, भगवतीचरण बोहरा, सुखदेव आदि अधिक बौद्धिक क्रान्तिकारियों के विचारों को वे आँख मूँदकर नहीं स्वीकारते थे बल्कि उन पर पूरी बहस करते थे। सभी दस्तावेज़ों, बयानों, पर्चों आदि पर वे चर्चा करते थे और उनकी सहमति से ही वे जारी किये जाते थे। गम्भीर वैचारिक पुस्तकें वे साथियों से पढ़कर सुनते थे और उन पर चर्चा करते थे।

आज़ाद एच.आर.ए. और एच.एस.आर.ए. के बीच की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी थे और काकोरी काण्ड के बाद क्रान्तिकारी संगठन के बिखरे सूत्रों को जोड़कर उसका पुनर्गठन उन्हीं के नेतृत्व में हुआ था। भगतसिंह आदि से वे उम्र में एक-दो वर्ष ही बड़े थे पर उन्होंने अत्यन्त कुशलता, त्याग और साहस के साथ युवा क्रान्तिकारियों की उस टीम को संगठित, प्रेरित और सक्रिय किया जिसने अपने शौर्य, वैचारिक प्रखरता और असीम बलिदान से पूरे देश में बिजली की लहर पैदा कर दी और करोड़ों-करोड़ हिन्दुस्तानियों को विदेशी हुकूमत के खिलाफ़ सड़कों पर उतरने के लिए प्रेरित किया था। आज की युवा पीढ़ी को आज़ाद जैसे क्रान्तिकारियों के जीवन और बलिदान से प्रेरणा लेकर उनके अधूरे सपनों को पूरा करने की राह पर आगे चलना है। यहाँ हम उनके साथी क्रान्तिकारी शिव वर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक 'संस्मृतियाँ' का एक अंश प्रकाशित कर रहे हैं। — सं.

आज़ाद का जन्म 23 जुलाई, सन 1906 तदनुसार सावन सुदी दूज दिन सोमवार को मध्य प्रदेश में अलीराजपुर रियासत के भावरा ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं. सीताराम तिवारी और माता का नाम श्रीमती जगरानी देवी था। भावरा ग्राम पहले अलीराजपुर रियासत में था। देश की आज़ादी और रियासतों के विलयन के बाद वह मध्य भारत का अंश बना। पिफर मध्य भारत और मध्य प्रदेश के विलयन के बाद वह मध्य प्रदेश में आ गया। इस समय वह झाबुआ जिले में है।

आज़ाद के पितामह उत्तर प्रदेश में जिला कानपुर में रहने वाले थे। पिता पं. सीताराम तिवारी का बचपन तथा युवावस्था के कुछ वर्ष उन्नाव जिले के बदरका गाँव में बीते। पं. सीताराम के पाँच पुत्रा थे। प्रथम पुत्र सुखदेव का जन्म बदरका में हुआ था। बाक़ी चार का जन्म भावरा में हुआ। आज़ाद सबमें छोटे थे।

बचपन से ही पढ़ने-लिखने के बजाय तीर-कमान या बन्दूक़ चलाने में आज़ाद की रुचि अधिक थी। वे प्रायः स्कूल का बहाना लेकर घर से निकल जाते और रास्ते में अपने दोस्तों के साथ थानेदार-डाकू का खेल खेलते रहते या पिफर तीन-कमान चलाने का अभ्यास करते और जानवरों का शिकार करते। आज़ाद की इन सब बातों से परेशान होकर उनके माता-पिता ने उन्हें काम से नौकरी में लगा देने की सोची। तहसील में नौकरी मिल भी गयी। लेकिन आज़ाद भला उस सबमें कब बँधने वाले थे। अवसर मिलते ही एक मोती बेचने वाले के साथ वे बम्बई चले गये। वहाँ उन्हें कुछ मज़दूरों की सहायता से जहाज़ों को रंगने वाले रंगसाजों की मदद से काम मिल गया और उन्हीं की सहायता से उनके साथ के लोगों की कोठरी में लेटने-भर की जगह भी मिल गयी। अपने बम्बई जीवन की चर्चा करते हुए उन्होंने वैशम्पायन से बतलाया कि शाम को वे मज़दूर उन्हें अपने साथ अपनी कोठरी पर ले गये। खाने को पूछा तो कह दिया खा चुका हूँ। दूसरा दिन मूँगपफली-भेल आदि खाकर और पानी पीकर पार कर दिया। एक सप्ताह तक यही क्रम चलाने के बाद उन्होंने होटल की शरण ली।

बम्बई में आज़ाद के लिए सबसे कठिन समस्या थी रात बिताने की। मज़दूरों की उस छोटी कोठरी में जितने लोग एक साथ सोते थे उनकी श्वासों से वहाँ की हवा दूषित हो जाती थी, उस पर कोई-कोई लोग खँखार कर किसी कोने में थूक भी देते थे। सारी कोठरी में बीड़ी का धुआँ भरा रहता था। उसमें कोई खिड़की भी नहीं थी इसलिए बाहर की स्वच्छ हवा आदि का भी कोई रास्ता नहीं था। आज़ाद ऐसे घुटन भरे वातावरण में सोने के आदी नहीं थे। इसलिए काम से छूटने पर खा-पीकर वे सिनेमा में जा बैठते और कोठरी तभी जाते जब नींद रोकना असम्भव हो जाता।

आज़ाद के बम्बई के जीवन के बारे में वैशम्पायन ने लिखा है, "बम्बई में आज़ाद सप्ताह में एक बार स्नान करते थे। क्योंकि सवेरे पाँच बजे उठकर नहाने की सुविधा नहीं थी, पास में कपड़े भी इतने नहीं थे कि नित्य उन्हें धोकर सुखाते और बदलते, इसलिए वे रविवार को ही नहाते थे। उस दिन छुट्टी होती थी इसलिए देर तक सोते रहते। बाद में प्रातविधि से निवृत्त हो नाश्ता करते और उसके बाद घूमते हुए चोर बाज़ार जाते। वहाँ से एक हाफ़पैण्ट और कमीज़ ख़रीदकर साबुन-तेल लेते। पिफर किसी जनपथ के नल पर बैठकर नहाते, पुराने कपड़े उतार फेंकते और उस दिन ख़रीदे कपड़े पहिन लेते। ये ख़रीदे कपड़े भी पुराने ही होते थे परन्तु धोबी के धुले होने के कारण सप्ताह भर चल जाते। फिर सिर में तेल डाल, पुराने कपड़े आदि आस-पास फेंक देते और किसी होटल में भोजन करने चल देते। इसके बाद सड़कों के चक्कर, चिड़ियाघर की सैर या किसी पार्क में पेड़ की छाँह में विश्राम। उसके बाद चौपाटी पर बैठकर समय बिताना और शाम होते ही फिर सिनेमा हॉल में घुस जाना।

"धीरे-धीरे उन्हें बम्बई के उस यन्त्रावत जीवन से घृणा हो गयी। वे यह अनुभव करने लगे कि यदि उन्हें पेट भरने के लिए नौकरी या मज़दूरी ही करनी थी तो वह अलीराजपुर में मिल ही गयी थी। उसके लिए घर छोड़कर इतने कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता थी। तब एक रविवार को जब वे नहा-धोकर होटल में भोजन करने गये तो भोजन करते-करते उन्होंने बम्बई छोड़ने का निश्चय कर लिया। परन्तु घर वापस जाना नहीं था इसीलिए संस्कृत पढ़ने बनारस जाने का विचार किया।...

"होटल से भोजन करने के पश्चात उन्होंने सीधे रेलवे स्टेशन की राह पकड़ी। सामान तो घर से कुछ लेना नहीं था, जो कुछ था वह पास ही था। एक सप्ताह की कमाई भी जेब में थी। स्टेशन पर जानकारी प्राप्त कर बनारस की गाड़ी में बिना टिकट जा बैठे। बम्बई से जाते समय वे एक चीज़ अवश्य ले गये। और वह था मज़दूरों के जीवन का उनका अपना ख़ुद का अनुभव। उनकी स्थिति से भी वे अच्छी तरह परिचित हो गये थे। क्रान्तिकारी जीवन में जब मज़दूरों की परिस्थिति के विषय में चर्चा चलती तो वे उस पर अधिकारपूर्वक बोलते थे। उसी प्रकार भावरा में वे आदिवासियों तथा किसानों के जीवन को भी निकट से देख चुके थे। इसीलिए किसान तथा मज़दूरों के राज की जब वे चर्चा करते तो उसमें उनकी सहानुभूति की झलक स्पष्ट दिखायी देती थी।"

बनारस में उन्नाव निवासी श्री शिवविनायक मिश्र से उनकी मुलाक़ात हुई और मिश्रजी की सहायता से उन्हें एक संस्कृत पाठशाला में प्रवेश भी मिल गया। इसके कुछ दिन बाद ही 1921 का असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया और उसी में संस्कृत कॉलेज बनारस पर धरना देते हुए वे गिरफ़्तार कर लिये गये। अदालत में जब उनसे पूछा गया तो उन्होंने बतलाया–"आज़ाद"। तभी से वे आज़ाद के नाम से पुकारे जाने लगे।

इस केस में आज़ाद को 15 बेंतों की सज़ा हुई थी। बेंत लगाने के बाद उन्हें जेल से बाहर कर दिया गया। ख़ून से लथपथ वे किसी तरह पैदल घिसटकर अपने स्थान पर पहुँचे। वहाँ सराय गोवर्धन में गौरीशंकर शास्त्री ने घाव ठीक होने तक उनकी ख़ूब सेवा की।

स्वस्थ हो जाने के बाद आज़ाद काशी विद्यापीठ में भर्ती हो गये। यह 1922 की बात है। यहीं पर उनका श्री मन्मथनाथ गुप्त तथा श्री प्रणवेश चटर्जी से परिचय हुआ। यह दोनों साथी पहले ही क्रान्तिकारी दल की सदस्यता प्राप्त कर चुके थे। प्रणवेश की निगाह आज़ाद पर पड़ी और उन्होंने धीरे-धीरे आज़ाद को भी दल का सदस्य बना लिया। और तब से जीवन के अन्त तक अडिग भाव से साबितक़दमी के साथ वे सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग पर लगातार आगे बढ़ते रहे।

... ...

लिखने-पढ़ने के मामले में आज़ाद की सीमाएँ थीं। उनके पास कॉलेज या स्कूल का अंग्रेज़ी सर्टिफिकेट नहीं था और उनकी शिक्षा हिन्दी तथा मामूली संस्कृत तक ही सीमित थी। लेकिन ज्ञान और बुद्धि का ठेका अंग्रेज़ी जानने वालों को ही मिला हो ऐसी बात तो नहीं है। यह सही है कि उस समय तक समाजवाद आदि पर भारत में बहुत थोड़ी पुस्तकें थीं और वे भी केवल अंग्रेज़ी में ही। आज़ाद स्वयं पढ़कर उन पुस्तकों का लाभ नहीं उठा सकते थे लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि आज़ाद उस ज्ञान की जानकारी के प्रति उदासीन थे। सच तो यह है कि केन्द्र पर हम लोगों से पढ़ने-लिखने के लिए जितना आग्रह आज़ाद करते थे उतना और कोई नहीं करता था। वे प्रायः ही किसी न किसी को पकड़कर उससे सिद्धान्त सम्बन्धी अंग्रेज़ी की पुस्तकें पढ़वाते और हिन्दी में उसका अर्थ करवाकर समझने की कोशिश करते। कार्ल मार्क्स का 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' दूसरी बारी आदि से अन्त तक मैंने आज़ाद को सुनाते समय ही पढ़ा था।

भगतसिंह और सुखदेव के आ जाने पर सैद्धान्तिक प्रश्नों पर ख़ासतौर पर बहस छिड़ जाती थी। हमारा अन्तिम उद्देश्य क्या है, देश की आज़ादी से हमारा क्या मतलब है, भावी समाज कैसा होगा, श्रेणी रहित समाज का क्या अर्थ है, आधुनिक समाज के वर्ग संघर्ष में क्रान्तिकारियों की क्या भूमिका होनी चाहिए, राजसत्ता क्या है, कांग्रेस किस वर्ग की संस्था है, ईश्वर, धर्म आदि का जन्म कहाँ से हुआ आदि प्रश्नों पर बहस होती और आज़ाद उसमें खुलकर भाग लेते थे।

ईश्वर है या नहीं इस पर आज़ाद किसी निश्चित मत पर पहुँच पाये थे, यह कहना कठिन है। ईश्वर की सत्ता से इनकार करने वाले घोर नास्तिक भगतसिंह की दलीलों का विरोध उन्होंने कभी नहीं किया। अपनी ओर से न उन्होंने कभी ईश्वर की वकालत की और न उसके पीछे ही पड़े।

शोषण का अन्त, मानव मात्र की समानता की बात और श्रेणी-रहित समाज की कल्पना आदि समाजवाद की बातों ने उन्हें मुग्ध-सा कर लिया था। और समाजवाद की जिन बातों को जिस हद तक वे समझ पाये थे उतने को ही आज़ादी के ध्येय के साथ जीवन के सम्बल के रूप में उन्होंने पर्याप्त मान लिया था। वैज्ञानिक समाजवाद की बारीकियों को समझे बग़ैर भी वे अपने-आप को समाजवादी कहने में गौरव अनुभव करने लगे थे। यह बात आज़ाद ही नहीं, उस समय हम सब पर लागू थी। उस समय तक भगतसिंह और सुखदेव को छोड़कर और किसी ने न तो समाजवाद पर अधिक पढ़ा ही था और न मनन ही किया था। भगतसिंह और सुखदेव का ज्ञान भी हमारी तुलना में ही अधिक था। वैसे समाजवादी सिद्धान्त के हर पहलू को पूरे तौर पर वे भी नहीं समझ पाये थे। यह काम तो हमारे पकड़े जाने के बाद लाहौर जेल में सन 1929-30 में सम्पन्न हुआ। भगतसिंह की महानता इसमें थी कि वे अपने समय के दूसरे लोगों के मुक़ाबले राजनीतिक और सैद्धान्तिक सूझबूझ में काफ़ी आगे थे।

आज़ाद का समाजवाद की ओर आकर्षित होने का एक और भी कारण था। आज़ाद का जन्म एक बहुत ही निर्धन परिवार में हुआ था और अभाव की चुभन को व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने अनुभव भी किया था। बचपन में भावरा तथा उसके इर्द-गिर्द के आदिवासियों और किसानों के जीवन को भी वे काफ़ी नज़दीक से देख चुके थे। बनारस जाने से पहले कुछ दिन बम्बई में उन्हें मज़दूरों के बीच रहने का अवसर मिला था। इसीलिए, जैसा कि वैशम्पायन ने लिखा है, किसानों तथा मज़दूरों के राज्य की जब वे चर्चा करते तो उसमें उनकी अनुभूति की झलक स्पष्ट दिखायी देती थी।

कहानी

हड़ताल

मक्सिम गोर्की

नेपल्ज़ के ट्राम-कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी थी। रिव्येरा कयाया सड़क की पूरी लम्बाई में ट्राम के खाली डिब्बे खड़े थे और विजय-चैक में ड्राइवरों तथा कंडक्टरों की भीड़ जमा थी – बड़े ही ख़ुशमिज़ाज, हो-हल्ला करने वाले और पारे की तरह चंचल नेपल्जवासियों की भीड़। इन लोगों के सिरों और बाग़ के जंगले के ऊपर तलवार की तरह पतली फ़व्वारे की धार हवा में चमक रही थी। जिन लोगों को इस बड़े नगर के सभी भागों में काम-काज से जाना था, उनकी भारी भीड़ शत्रुता की भावना अनुभव करते हुए इन हड़तालियों को घेरे थी। ऐसे सभी कारिन्दे, कारीगर, छोटे-मोटे व्यापारी और दर्जी आदि हड़तालियों को ऊँचे-ऊँचे और खीझते हुए भला-बुरा कह रहे थे। गुस्से से भरे शब्द, चुभते व्यंग्य-वाक्य हवा में गूँज रहे थे, हाथ लगातार लहरा रहे थे जिनकी मदद से नेपल्ज़वासी कभी न रुकनेवाली अपनी ज़बान की तरह ही बहुत अभिव्यक्तिपूर्ण तथा अच्छे ढंग से अपने को व्यक्त करते हैं।

सागर की ओर से मन्द-मन्द समीर बह रहा था। नगर-उपवन के बहुत बड़े-बड़े ताड़ वृक्ष गहरे हरे रंग की अपनी शाखाओं के पंखों को धीरे-धीरे हिला रहे थे। इन ताड़ वृक्षों के तने भीमकाय हाथियों के भद्दे पैरों से बहुत मिलते-जुलते थे। बच्चे – नेपल्ज़ की सड़कों-गलियों के अधनंगे बच्चे – गौरैयों की तरह फुदक रहे थे, हवा को अपनी किलकारियों और ठहाकों से गुंजा रहे थे। नक्काशी की प्राचीन कलाकृति से मिलता-जुलता शहर सूरज की किरणों में नहाया हुआ था पूरे का पूरा मानो आर्गन बाजे के संगीत में डूबा था। खाड़ी की नीली लहरें तट-बंध से टकराती थीं, खंजड़ी जैसी छनक पैदा करती हुई लोगों के शोर और चीख-चिल्लाहट का साथ देती थीं। भीड़ की गुस्से भरी आवाज़ों का लगभग जवाब दिये बिना हड़ताली एक-दूसरे के साथ सटते जाते थे, बाग के जंगले पर चढ़कर लोगों के सिरों के ऊपर से सड़क की ओर बेचैनी से देखते थे और कुत्तों से घिरे हुए भेड़ियों जैसे लगते थे। सभी यह जानते थे कि एक जैसी वर्दी पहने हुए हड़ताली इस दृढ़ निर्णय के सूत्र में कसकर बँधे हुए हैं कि किसी भी हालत में क़दम पीछे नहीं हटायेंगे और भीड़ को इस बात से और भी अधिक गुस्सा आ रहा था। किन्तु भीड़ में कुछ दार्शनिक क़िस्म के लोग भी थे जो बड़े इत्मीनान से सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए हड़ताल के बहुत ही कट्टर विरोधियों के साथ इस प्रकार तर्क-वितर्क कर रहे थे –

"अजी महानुभाव ! अगर बच्चों को सेवैयां तक खिलाने को पैसे काफ़ी न हों तो आदमी करे भी तो क्या?"

नगरपालिका के बने-ठने पुलिसवाले दो-दो, तीन-तीन की टोलियों में खड़े हुए इस बात की ओर ध्यान दे रहे थे कि लोगों की भीड़ के कारण ट्रामों की गतिविधि में बाधा न पड़े। वे कड़ाई से तटस्थता का अनुकरण कर रहे थे, हड़तालियों तथा हड़ताल-विरोधियों को एक जैसी शान्त नज़र से देखते थे। और जब चीख-चिल्लाहट तथा हाव-भाव बहुत ही उग्र रूप धारण कर लेते थे तो दोनों पक्षों का ख़ुशमिज़ाजी से मज़ाक उड़ाते थे। कोई गम्भीर भिड़न्त हो जाने की हालत में दख़ल देने को तैयार फ़ौजी-पुलिस के दस्ते छोटी-छोटी और हल्की-हल्की बन्दूक़ें हाथ में लिये हुए पास की तंग-सी गली के घरों की दीवार के साथ सटे खड़े थे। तिकोने टोप, छोटे-छोटे लबादे और पतलूनों पर रक्त की दो धाराओं जैसी पट्टियोंवाले पतलून पहने ये लोग ख़ासे मनहूस लग रहे थे।

आपसी तू-तू मैं-मैं, ताने-बोलियां, व्यंग और तर्क-वितर्क – अचानक यह सब कुछ बन्द हो गया, लोगों में एक नयी, मानो शान्ति देनेवाली भावना की लहर-सी दौड़ गयी, हड़तालियों के चेहरों पर अधिक गम्भीरता छा गयी, साथ ही वे एक-दूसरे के अधिक निकट हो गये और भीड़ चिल्ला उठी –

"फ़ौजी आ गये!"

हड़तालियों का मज़ाक़ उड़ाती और किलकारी भरी सीटियाँ सुनाई दीं, अभिवादन के नारे गूँज उठे और हल्के भूरे रंग का सूट तथा पनामा टोपी पहने कोई मोटा-सा आदमी पत्थरों की सड़क पर पाँव बजाता हुआ उछलने-कूदने लगा। कंडक्टर और ट्राम-ड्राइवर भीड़ को चीरते हुए धीरे-धीरे ट्रामों की तरफ बढ़ने लगे, उनमें से कुछेक तो पायदानों पर चढ़ भी गये – वे पहले से भी ज्यादा संजीदा हो गये थे और भीड़ की आवाजों का कठोरता से जवाब देते हुए उसे रास्ता देने को मजबूर कर रहे थे। ख़ामोशी छा गयी।

तटवर्ती सान्टा लुचीया की ओर से भूरी वर्दियां पहने छोटे-छोटे फ़ौजी नाच की तरह हल्के-फुल्के कदम बढ़ाते, पाँवों से लयबद्ध आवाज़ पैदा करते और बायें हाथों को एक ही ढंग से यन्त्रावत हिलाते हुए चले आ रहे थे। वे मानो टीन के बने हुए और चाबी से चलने वाले खिलौनों की तरह आसानी से टूट जाने वाले प्रतीत हो रहे थे। त्योरियाँ चढ़ाये और होठों पर तिरस्कारपूर्वक बल डाले हुए ऊँचे क़द का एक सुन्दर अफ़सर इनका नेतृत्व कर रहा था। ऊँचा टोप पहने, लगातार कुछ बोलता और हाथों के असंख्य संकेतों से हवा को चीरता हुआ एक मोटा सा आदमी उसके साथ-साथ उछलता और दौड़ता चला आ रहा था।

भीड़ तेजी से ट्रामों से दूर हट गयी – भूरे रंग की माला के मनकों की तरह फ़ौजी पायदानों के पास रुकते हुए, जहाँ हड़ताली खड़े थे, डिब्बों के निकट बिखर गये।

ऊँचा टोप पहनेवाले को घेरे हुए कुछ अन्य धीर-गम्भीर लोग हाथों को जोर से हिलाते हुए चिल्ला रहे थे –

"आखिरी बार – Ultima volta!" सुन लिया?"

अफ़सर एक ओर को सिर झुकाये हुए ऊबभरे ढंग से अपनी मूँछों पर ताव दे रहा था। ऊँचे टोप को हिलाता और भागता हुआ वह व्यक्ति उसके पास आया और उसने खरखरी आवाज़ में चिल्लाकर कुछ कहा। अफ़सर ने तिरछी नजर से उसकी तरफ़ देखा, तनकर खड़ा हो गया, उसने छाती को अकड़ाया और ऊँची आवाज़ में आदेश देने लगा।

ऐसा होते ही फ़ौजी उछलकर ट्रामों के पायदानों पर दो-दो की संख्या में चढ़ने लगे और इसी समय ट्राम-ड्राइवर और कंडक्टर नीचे कूद गये।

भीड़ को यह दिलचस्प मज़ाक सा प्रतीत हुआ – लोग चीखने-चिल्लाने, सीटियाँ बजाने और ठहाके लगाने लगे। किन्तु यह सब एकाएक शान्त हो गया और लोग गम्भीर तथा तनावपूर्ण चेहरे बनाये और हैरानी से आँखें फैलाये हुए भारी मन से ट्रामों से पीछे हटने लगे और सबसे आगे खड़ी ट्राम की ओर बढ़ चले।

सभी को यह साफ़ दिखाई देने लगा कि ट्राम के पहियों से दो क़दम की दूरी पर पके बालोंवाला एक ड्राइवर, जिसका चेहरा फ़ौजियों जैसा था, सिर से टोपी उतारकर लाइनों के आर-पार चित लेटा हुआ है और चुनौती देती-सी उसकी मूँछें आकाश को ताक रही हैं। बन्दर की तरह चुस्त-फुर्तीला, एक नाटा-सा तरुण भी उसके पास ही लेट गया और उसके बाद अन्य लोग भी इत्मीनान से वहीं लेटते चले गये।

भीड़ में दबी-घुटी भनभनाहट थी, मादोन्ना का आह्वान करती हुई भयभीत-सी आवाजें गूँज उठती थीं, कुछ लोग झल्लाकर भला-बुरा भी कहते, औरतें चीखतीं और आहें भरतीं और इस दृश्य से आश्चर्यचकित छोकरे रबड़ के गेंदों की तरह उछल रहे थे।

ऊँचा टोप पहने व्यक्ति सिसकती-सी आवाज़ में कुछ चिल्लाया, अफ़सर ने उसकी ओर देखकर कंधे झटके – अफ़सर को ड्राइवरों की जगह पर अपने फ़ौजी तैनात करने चाहिए थे, किन्तु उसके पास हड़तालियों के विरुद्ध कार्रवाई करने का आदेश-पत्र नहीं था।

तब ऊँचे टोपवाला व्यक्ति जी-हुजूरी करनेवाले कुछ आदमियों को साथ लिए हुए फ़ौजी पुलिसियों की ओर लपका – वे अपनी जगहों से हिले, पटरियों पर लेटे हुए लोगों के पास आये और उन्हें वहाँ से उठाने के इरादे से उन पर झुक गये।

कुछ हाथापाई और झगड़ा हुआ, लेकिन अचानक धूल से लथपथ दर्शकों की सारी भीड़ हिली-डुली, चीखी-चिल्लायी और ट्राम की पटरियों की ओर भाग चली। पनामा टोपी पहने हुए व्यक्ति ने टोपी सिर से उतारी, उसे हवा में उछाला, हड़ताली का कंधा थपथपाकर तथा ऊँची आवाज़ में उसे प्रोत्साहन के कुछ शब्द कहकर सबसे पहले उसके निकट लेट गया।

इसके बाद खुशमिज़ाज और शोर मचाते हुए कुछ लोग, ऐसे लोग जो दो मिनट पहले तक वहाँ नहीं थे, ट्राम की पटरियों पर ऐसे गिरने लगे मानो उनकी टाँगें काट दी गयी हों। वे ज़मीन पर लेटते, हँसते हुए एक-दूसरे की ओर देखकर मुँह बनाते और चिल्लाकर अफ़सर से कुछ कहते जो ऊँचे टोपवाले व्यक्ति के सामने अपने दस्ताने फटकारता, व्यंग्यपूर्वक हँसता और सुन्दर सिर को झटकता हुआ कुछ कह रहा था।

अधिकाधिक लोग पटरियों पर लेटते जाते थे, औरतें अपनी टोकरियाँ और पोटलियाँ फेंक रही थीं, हँसी से लोट-पोट होते हुए छोकरे ठिठुरे पिल्लों की तरह गुड़ी-मुड़ी हो रहे थे और अच्छे कपड़े पहने लोग भी दायें-बायें करवट लेते हुए धूल में लोट रहे थे।

पहली ट्राम से पाँच फौजियों ने बहुत-से लोगों को पहियों के नीचे लेटे देखा, हँसी के मारे उनका बुरा हाल हो रहा था, वे हैंडलों को थामकर डोलते हुए, सिरों को पीछे की ओर झटकते तथा आगे की तरफ़ झुकते हुए जोर के ठहाके लगा रहे थे। अब वे टीन के बने खिलौनों जैसे बिल्कुल नहीं लग रहे थे।

आधा घण्टे के बाद शोर मचाती, चीं-चूँ की आवाज़ पैदा करती हुई ट्रामें सारे नेपल्ज़ में चल रही थीं, उनके पायदानों पर खुशी से मुस्कराते हुए विजेता खड़े थे और डिब्बों के साथ-साथ चलते हुए भी वही बड़ी शिष्टता से पूछ रहे थे –

"टिकट?!"

उनकी ओर लाल और पीले नोट बढ़ाते हुए लोग आँखें मिचमिचाते थे, मुस्कराते थे, खुशमिज़ाजी से बड़बड़ाते थे।

कॉमरेड अरविन्द के दसवें स्मृतिदिवस (24 जुलाई) के अवसर पर

का. अरविन्द सच्चे अर्थों में जनता के आदमी थे। 20 वर्ष की छोटी-सी उम्र में उन्होंने क्रान्तिकारी वामपन्थी राजनीति की शुरुआत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में छात्र राजनीति से की थी। इसके बाद वर्षों तक वे पूर्वी उत्तर प्रदेश के कई ज़िलों के ग्रामीण क्षेत्रों में नौजवानों को संगठित करते रहे। कुछ दिनों तक उन्होंने गोरखपुर और लखनऊ में भी छात्र-मोर्चे पर काम किया। मऊ ज़िले में ग्रामीण मजदूरों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के बाद वे लम्बे समय तक दिल्ली-नोएडा में औद्योगिक मज़दूरों के बीच काम करते रहे। जीवन के अन्तिम वर्षों में वे गोरखपुर के मज़दूरों और सफ़ाई कर्मचारियों को संगठित करते हुए क्रान्तिकारी छात्र-युवा राजनीति में सक्रिय युवाओं की नयी पीढ़ी के लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभा रहे थे।

एक कुशल संगठनकर्ता होने के साथ ही का. अरविन्द सैद्धान्तिक क्षेत्र में भी गहरी पकड़ रखते थे। एक सिद्धहस्त राजनीतिक पत्रकार, लेखक और अनुवादक के रूप में पूरा हिन्दी जगत उनकी क्षमताओं से परिचित था। समाजवाद की समस्याओं, पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों और सांस्कृतिक क्रान्ति के बारे में उन्होंने गहन शोध-अध्ययन किया था। मज़दूर आन्दोलन की समस्याओं और चुनौतियों पर भी उनका अध्ययन गहरा था और समझदारी व्यापक थी। 'नौजवान', 'आह्वान', 'दायित्वबोध', 'बिगुल', आदि कई पत्र-पत्रिकाओं में न केवल वे नियमित लिखते रहे, बल्कि इनके सम्पादन से भी जुड़े रहे। कई युवा साथियों को उन्होंने अपने हाथों गढ़कर संगठनकर्ता बनाया और कई को लेखनी पकड़कर लिखना सिखाया। समय-समय पर देश के विभिन्न हिस्सों में जाकर क्रान्तिकारी वाम धारा के सहयात्रियों से मिलने तथा वाम एकता के लिए विचारधारा और लाइन के सवाल पर बहस चलाने का भी काम वे करते रहे। जो उनसे एक बार भी मिला, वह उन्हें कभी नहीं भुला सका।

आज से 10 वर्ष पहले, 24 जुलाई 2008 को हमने उन्हें खो दिया था।

वे एक सच्चे कम्युनिस्ट की भाँति सहज-सरल, खुशमिज़ाज, ज़िन्दादिल और पारदर्शी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे, लेकिन उसूलों के मामले में कभी भी वे कोई समझौता नहीं करते थे। एक बेरहम ठण्डे और दुनियादारी भरे समय में वे निष्कम्प अपनी राह चलते रहे और एक सच्चे सर्वहारा क्रान्तिकारी के समान जिये और मरे। हम उन्हें कभी नहीं भुला सकेंगे।

इसी महीने भारत के मज़दूर वर्ग की पहली राजनीतिक हड़ताल के 110 वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस ऐतिहासिक संघर्ष की शतवार्षिकी के मौक़े पर दिल्ली में 24 जुलाई को आयोजित होने वाले सेमिनार के ब्रोशर की सामग्री भी कॉमरेड अरविन्द ने गोरखपुर में रहते हुए ही तैयार करके भेजी थी, हालाँकि अपनी स्थानीय व्यस्तताओं के कारण वे स्वयं इसमें शिरकत नहीं करने वाले थे। (23 जुलाई को अचानक उनकी तबियत बिगड़ने के बाद इस सेमिनार को रद्द कर देना पड़ा था।)

इस अवसर पर हम कॉमरेड अरविन्द और 1908 की ऐतिहासिक मज़दूर हड़ताल को याद करते हुए 'मज़दूर बिगुल' के एक लेख को पुनर्प्रकाशित कर रहे हैं। इसे 'मज़दूर बिगुल' के नियमित लेखक और हरियाणा में मज़दूर आन्दोलन से जुड़े युवा साथी अरविन्द ने लिखा है। – सम्पादक मण्डल

भारतीय मज़दूर वर्ग की पहली राजनीतिक हड़ताल (23-28 जुलाई, 1908)
एक प्रेरक और गौरवशाली इतिहास जिसे मज़दूर वर्ग से जानबूझकर छिपाया गया

"हिन्दुस्तान के जनवादी तिलक को अंग्रेज गीदड़ों द्वारा सुनायी गयी बदनाम सज़ा – उन्हें दीर्घ काल तक देश-निर्वासन की सजा दी गयी, ब्रिटिश हाउस ऑफ़ कॉमन्स में एक प्रश्न ने यह उजागर किया कि हिन्दुस्तानी जूरी-सदस्यों ने उन्हें बरी करने के पक्ष में मत दिया और फैसला अंग्रेज जूरी-सदस्यों के मतों से पास किया गया – पूँजीपतियों के पालतू कुत्तों द्वारा की गयी इस प्रतिशोधत्मक कार्रवाई के फलस्वरूप बम्बई में सड़कों पर प्रदर्शन और हड़ताल भड़क उठी है। भारत में भी सर्वहारा अब सचेत राजनीतिक जनसंघर्ष के स्तर तक विकसित हो चुका है।" मज़दूरों के महान नेता लेनिन के ये शब्द राष्ट्रीय आन्दोलन के लोकप्रिय नेता बालगंगाधर तिलक पर चले मुकदमे और विरोधस्वरूप मज़दूर वर्ग की शानदार हड़ताल के बारे में हैं। 23 से 28 जुलाई सन् 1908 का समय भारतीय मज़दूर आन्दोलन का वह गौरवशाली इतिहास है, जिसे मुम्बई के मज़दूरों ने अपने खून से लिखा था। बंगाल के आतंकवाद पर 'केसरी' नामक समाचारपत्र में कुछ लेख लिखने के कारण अंग्रेजों द्वारा लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया और उन्हें 6 साल के लिए देश निकाला दे दिया गया। जब 24 जून, 1908 को मुम्बई में तिलक की गिरफ़्तारी हुई तो न सिर्फ़ मुम्बई में बल्कि शोलापुर, नागपुर समेत पूरे देश में इसके विरोध में जनता सड़कों पर उमड़ आयी थी। किन्तु मुम्बई के मज़दूर इस संघर्ष में सबसे आगे थे। मज़दूरों द्वारा किया गया यह संघर्ष एक व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि पूरी औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्याय के खिलाफ़ संघर्ष का प्रतीक है। मज़दूर अपनी आर्थिक माँगों के लिए नहीं बल्कि गोरे दमन के खिलाफ़ लड़ रहे थे। यह दिखलाता है कि मज़दूर वर्ग औपनिवेशिक ग़ुलामी के खिलाफ़ संघर्ष का बिगुल उसी समय बजा चुका था, जब देश के पूँजीपति वर्ग के नेता खुद को अंग्रेज़ हुकूमत की वफ़ादार प्रजा बताते हुए सरकार से कुछ रियायतों की भीख माँग रहे थे।

तिलक पर मुक़दमा चलने के दौरान मुम्बई के मज़दूरों ने विशाल प्रदर्शन और हड़तालें की थीं, जिनमें अक्सर पुलिस के साथ हिंसक मुठभेड़ें हो जाती थीं। फलस्वरूप सेना को भी बुला लिया गया, साथ ही देसी पुलिस का प्रयोग करने में अंग्रेज़ अन्त तक बचते रहे थे। जब 13 जुलाई से तिलक पर मुक़दमा चलना शुरू हुआ, तो उसी दिन अदालत के सामने जनता की पुलिस से हिंसक झड़प हुई थी। उस दिन अंग्रेजों की सेना के हथियारबन्द दस्तों ने रास्तों को इस तरह से घेर रखा था कि मज़दूर अपने कारख़ानों से निकलकर अदालत तक न पहुँच सकें। इसके बावजूद ब्रिव्स्कर्ण मिल के मजदूरों ने हड़ताल करके जुलूस निकाला। 14, 15 और 16 को भी ऐसा ही हुआ। मज़दूर जुलूस निकलते और मिलिटरी उन्हें आगे बढ़ने से रोकती और जूलूस को तोड़ने के प्रयास करती। 17 जुलाई को मज़दूरों के आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। दोपहर बाद लक्ष्मीराम, ग्लोब, क्रिमेंट, जमशेद, नारायण, करीमभाई, मोहम्मदभाई, ब्रिटानिया, फ़ीनिक्स, ग्रीव्सकाटन इत्यादि कपड़ा मिलों के मज़दूर हड़ताल करके बाहर निकल आये। करीब 20,000 मजदूरों ने औद्योगिक इलाके में जुलूस निकाला और सभी मज़दूरों से कारखानों से बाहर निकल आने का अनुरोध किया गया। 18 जुलाई को भी यही किया गया, किन्तु इस दिन पुलिस द्वारा मज़दूरों पर गोली चलाई गई। 19 जुलाई को मुम्बई के महिम और परेल इलाके के 60 कारखानों और रेलवे वर्कशोप के करीब 65,000 मज़दूर हड़ताल कर बाहर आ गये। 20 जुलाई को मजदूरों पर फिर से गोलियाँ चलायी गयीं। 21 जुलाई के दिन संघर्ष ने और भी विराट रूप धारण कर लिया। संग्राम में औद्योगिक मजदूरों के साथ गोदी मज़दूर, दुकान मज़दूर, दुकानदार, और छोटे-मोटे व्यापारी भी शामिल हो गये। 22 जुलाई को 5 हड़ताली मज़दूरों को गिरफ़्तार करके उन्हें कठोर सज़ाएँ दी गयीं ताकि दूसरे इससे डर सकें। साथ ही यह दिन तिलक पर मुक़दमे की सुनवाई का आखिरी दिन भी था। उन्हें 6 साल के कठोर कारावास, 1000 रुपए के जुर्माने समेत देश-निकाले की सजा दी गई। उसी दिन मजदूरों द्वारा 6 दिन की व्यापक हड़ताल का निर्णय (तिलक की कैद के हरेक साल के लिए एक दिन की हड़ताल के रूप में) लिया गया।

23 जुलाई को करीब एक लाख मज़दूरों ने हड़ताल में हिस्सेदारी की। मुंबई की आम जनता भी मज़दूरों के साथ आ खड़ी हुई। 24 जुलाई को संघर्षरत जनता की लड़ाई सेना के हथियारबंद दस्तों के साथ फिर से शुरू हो गयी। गोलियों का जवाब ईंटो और पत्थरों की बारिश से दिया गया। बहुत से मज़दूर आम जनता के साथ शहीद हुए। इसी बीच पुलिस कमिश्नर ने मिल मालिकों से हड़ताल का विरोध करने के लिए कहा। मालिकों ने फैसला किया कि 'उद्योग की भलाई' के लिए मजदूरों को हड़ताल बंद कर देनी चाहिए। मिल मालिक एसोसिएशन के अध्यक्ष हरिलाल भाई विश्राम ने मिल मालिकों को सलाह दी -"आपकी ज़िम्मेदारी यह देखना है कि सरकार को किसी तरह परेशान न किया जाए, कानून-कायदों को मानकर चला जाए। आप मज़दूरों को काम पर वापस जाने के लिए दबाव डालिए।" परन्तु मज़दूरों ने मालिकों-पुलिस-प्रशासन की तिकड़मों को धता बताते हुए अपने संघर्ष को जारी रखा। देश की जनता के सामने किये गए 6 दिन की हड़ताल के वायदे को मजदूरों ने शब्दशः निभाकर अपने जुझारूपन को स्थापित कर दिया। शहर के मध्यवर्ग और श्रमिकों के दुसरे हिस्सों ने मजदूरों का साथ दिया। पुलिस और सेना की तरफ़ से बार-बार गोलियाँ चलायी गयीं। इस संघर्ष में करीब 200 मज़दूरों और आम लोगों ने अपनी शहादत दी और बहुत से घायल हुए।

जिस तरह आज़ादी की लड़ाई में मज़दूर-किसानों की शानदार भूमिका और मेहनतकशों की लाखों-लाख कुर्बानियों की चर्चा तक नहीं की जाती उसी तरह मज़दूरों के इस ऐतिहासिक संघर्ष पर भी साज़िशाना तरीके से राख और धूल की परत चढ़ाकर इसे भुला दिया गया। लगता है हमारे तथाकथित इतिहासकारों और नेताओं को इन संघर्षों का जिक्र करते हुए डर की अनुभूति होती है। 15 अगस्त और 26 जनवरी को झंडा फहराते हुए 'साबरमती के संत' के कारनामों की तो चर्चा होती है, अंग्रेजों के दल्ले तक 'महान स्वंत्राता सेनानी' बन जाते हैं किन्तु जब देश की मेहनतकश जनता ने अपने खून से धरती को लाल कर दिया था, और जिन जनसंघर्षों के दबाव के कारण अंग्रेज़ भागने को मजबूर हुए उनका कभी नाम तक नहीं लिया जाता। मज़दूरों की पहली राजनीतिक हड़ताल, अहमदाबाद, कानपुर, नागपुर आदि के मज़दूरों के संघर्ष, गिरनी कामगार यूनियन का गौरवमयी इतिहास, शोलापुर कम्यून का संघर्ष, रॉयल नेवी और सेना की बगावतें, तेलंगाना, तेभागा पुनप्रा-वायलार और कय्यूर के जुझारू किसान संघर्ष, पंजाबी जनता की डंडा फौज, भगतसिंह और उनके साथियों के संगठन एच.एस.आर.ए. के पूरे क्रान्तिकारी इतिहास इत्यादि के बारे में कितने लोग जानते हैं। पूँजीवादी मीडिया कब इनका नाम लेता है, और नाम ले भी क्यों? क्योंकि शासक वर्ग जानता है कि यदि मेहनतकश आवाम से उसका प्रतिरोध का हथियार छीनना है तो उसे उसके क्रान्तिकारी इतिहास से काट देना ही कापफी है। संसदीय वामपंथी बातबहादुर और उनकी ट्रेड-यूनियनें (जिन्हें दलाल यूनियनें कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी) तो मज़दूरों का नाम लेकर और उन्हें दुवन्नी-चवन्नी के आर्थिक घेरो में उलझाकर ग़द्दारी ही करती रही हैं।

आज सबसे बड़ा काम है मज़दूर वर्ग को पूँलीवाद को उखाड़ फेंकने के उसके ऐतिहासिक मिशन से परिचित कराया जाय। इसी कड़ी में हमें अपने पुरखों को भी याद करना होगा – सिर्फ़ याद करने के लिए नहीं बल्कि उनके संघर्षो के लिए प्रेरित होने के लिए भी। मज़दूर वर्ग के शहीदों को सच्ची श्रद्धांजलि आज यही हो सकती है कि मज़दूरी की व्यवस्था के नाश के उनके सपनों को हम कितनी शिद्दत के साथ अपने व्यवहार में लागू करते हैं। मुंबई की सड़कों पर बहा हमारे पुरखों का ख़ून हमें आवाज़ दे रहा है कि शोषण-उत्पीड़न-आत्याचार की इस अमानवीय और नारकीय ज़िन्दगी से मज़दूर वर्ग की आज़ादी के लिए लड़ने का ठेका दूसरों को देने की बजाय अपनी और साथ ही साथ पूरे समाज की मुक्ति का परचम हम खुद अपने हाथों में थामकर आगे बढ़ें।

– अरविन्द

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

बेअसर होती एण्टीबायोटिक दवाएँ

मुनाफ़े के जाल में फँसे फ़ार्मा उद्योग का विनाशकारी भस्मासुर

- डॉ० पावेल पराशर

एण्टीबायोटिक यानी प्रतिजैविक का जन्म चिकित्सा विज्ञान की एक महान परिघटना थी। 1928 में ऐलेग्ज़ैण्डर फ़्लेमिंग द्वारा पहली एण्टीबायोटिक की खोज ने विश्व चिकित्सा विज्ञान को बदलकर रख दिया। एण्टीबायोटिक बीमारी न फैलने देने वाले रसायनों का एक ऐसा समूह है जो सूक्ष्मदर्शी कीटाणुओं, जीवाणुओं, फफूँदी तथा अन्य परजीवियों के द्वारा होने वाले संक्रमण का नाश करता है। एण्टीबायोटिक की खोज के बाद कई लाइलाज मानी जाने वाली घातक संक्रामक बीमारियाँ जैसे टीबी, कोलेरा, टायफ़ॉएड, प्लेग, निमोनिया आदि के इलाज में जादू की छड़ी की तरह इसका इस्तेमाल होने लगा व उन बीमारियों का जड़ से इलाज सम्भव हो गया जो एक ज़माने में महामारी का रूप लेकर गाँव के गाँव साफ़ कर देती थीं। जिन मामूली बीमारियों का इलाज उपलब्ध था, उन बीमारियों से भी छुटकारा पाने में महीनों लग जाते थे, एण्टीबायोटिक के इस्तेमाल से उनका इलाज सप्ताह-भर से भी कम में सम्भव होने लगा। एण्टीबायोटिक के अस्तित्व में आने के बाद इंसान की मृत्यु दर में ऐतिहासिक तेज़ी से गिरावट आयी, जिसने इंसान की औसत जीवन प्रत्याशा को भी बड़ी तेज़ी से बढ़ा दिया।

लेकिन आज इसी एण्टीबायोटिक से जुड़ा एक विकराल संकट चिकित्सा विज्ञान और मानव स्वास्थ्य के सामने इस क़दर मुँहबाए खड़ा है जिसका यदि जल्द समाधान नहीं ढूँढ़ा गया तो यह आने वाले दशकों में भयंकर विनाशकारी रूप अख़्तियार कर लेगा। इस संकट का नाम है "एण्टीबायोटिक रेजिस्टेंस" यानी "प्रतिजैविक प्रतिरोध"। मुनाफ़े के मकड़जाल में जकड़ा विज्ञान वरदान के साथ-साथ अभिशाप होने के अपने गुण को चरितार्थ कर गया है। यदि जीवाणु (बैक्टीरिया) पर किसी ख़ास क़िस्म के एण्टीबायोटिक का असर होना बन्द हो जाये, तो इसे एण्टीबायोटिक रेजिस्टेंस कहा जाता है। यह प्रतिरोध जीवाणु द्वारा उसके जीन (अनुवांशिकी की मूल इकाई) के स्तर पर विकसित होता है। किसी भी नये प्रकार के आक्रमण से बचने के लिए एक अलग प्रकार का प्रतिरोध विकसित करना पृथ्वी पर रहने वाले प्रत्येक जीव का स्वाभाविक गुण है जो बैक्टीरिया में भी पाया जाता है। बैक्टीरिया को यह अवसर मुहैया कराया है एण्टीबायोटिक के अत्यधिक उपयोग ने। एण्टीबायोटिक के अत्यधिक इस्तेमाल से बैक्टीरिया के जीन में कुछ स्थाई बदलाव आ जाते हैं जो बैक्टीरिया के अन्दर उस एण्टीबायोटिक के विरुद्ध प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर देते हैं। इन्हें "म्यूटेशन" अथवा "उत्परिवर्तन" कहा जाता है। प्रतिरोधक क्षमता विकसित करने के बाद उस बैक्टीरिया पर एण्टीबायोटिक का प्रभाव तो ख़त्म होता ही है, ऐसे प्रतिरोधक बैक्टीरिया जब किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति को संक्रमित करते हैं तो उसके अन्दर भी उस एण्टीबायोटिक के प्रति अक्रियाशील रोग पैदा कर देते हैं। धीरे-धीरे यह प्रतिरोधी बैक्टीरिया हमारी आबादी के भीतर व्यापक रूप धारण करने लगता है और गम्भीर जन-स्वास्थ्य संकट खड़ा कर देता है। आज "सुपरबग" के नाम से कुख्यात कुछ ऐसे बैक्टीरिया पैदा हो गये हैं जो हर तरह की एण्टीबायोटिक के लिए प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर चुके हैं। टीबी जैसी भयंकर बीमारियाँ जिनका अब तक इलाज 6-8 महीनों में पहली पंक्ति की चन्द एण्टीबायोटिक से पूरा होकर रोग को जड़ से मिटा देता था, उस टीबी के लिए ज़िम्मेदार बैक्टीरिया के भी ऐसे प्रतिरोधक प्रकार उत्पन्न हो गये हैं, जो दूसरी और तीसरी पंक्ति के एण्टीबायोटिक दवाओं के इस्तेमाल से भी बेअसर हैं व भयंकर स्वास्थ्य संकट बनकर कई देशों में मुँहबाए खड़े हैं। विदित हो कि थाईलैण्ड-कम्बोडिया की सीमा पर एक प्रकार का मलेरिया का कीटाणु पाया जाता है जिसने सभी दवाओं के विरुद्ध प्रतिरोधी क्षमता विकसित कर ली है।

एण्टीबायोटिक दवाओं का आज ज़रूरत से कहीं ज़्यादा मात्रा और व्यापकता में धड़ल्ले से इस्तेमाल हो रहा है। एण्टीबायोटिक जिनका उत्पादन मुनाफ़ाख़ोर फ़ार्मा कम्पनियों के हाथों में है, अपने मुनाफ़े की हवस में इनकी खपत को क़ानूनी-ग़ैरक़ानूनी हर हथकण्डे अपनाकर बढ़ाने का काम कर रही हैं। मुनाफ़े के लिए उत्पादित एण्टीबायोटिक के बाज़ार में खपत को सुनिश्चित करने हेतु राजनीतिक व आर्थिक रूप से बेहद ताक़तवर फ़ार्मा कम्पनियों का इस क़दर दबाव है कि कई डॉक्टर और फ़ार्मेसी वाले भी कमीशन के लिए एण्टीबायोटिक को टॉफ़ी-चाकलेट की तरह बाँटने लगे हैं। इसके अलावा आम जनता जानकारी के अभाव में साधारण अल्पकालिक सर्दी-ज़ुकाम, डायरिया, वाइरल संक्रमण आदि के लिए भी बिना डॉक्टर की पर्ची के यूँ ही एण्टीबायोटिक लेकर इन प्रतिरोधक जीवाणुओं को फलने-फूलने में अनजाने में मदद कर रही है।

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ :

एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2015 में भारत के अस्पतालों में जन्म लेने वाले 55,000 शिशुओं की मौतें माँ से मिले एण्टीबायोटिक प्रतिरोधी बैक्टीरिया के संक्रमण की वजह से हुई। आज भारत दुनिया में सबसे ज़्यादा एण्टीबायोटिक खपत करने वाला देश बन चुका है। पूरे विश्व की बात करें तो एक अनुमान के अनुसार साल 2050 तक दुनिया में एक करोड़ से ज़्यादा मौतें एण्टीबायोटिक प्रतिरोध की वजह से होगी, यानी कैंसर से भी ज़्यादा।

क्या करें :

- साधारण सर्दी ज़ुकाम, या अल्पकालिक बीमारियों के लिए एण्टीबायोटिक के इस्तेमाल से बचें।

एण्टीबायोटिक का इस्तेमाल डॉक्टर की पर्ची के बग़ैर न करें।

यदि एण्टीबायोटिक लेना पड़ ही जाये तो डॉक्टर द्वारा बताया गया डोज़ पूरा लें, न बीच में छोड़ें , न डोज़ कम करें।

इन सबके अलावा सबसे ज़रूरी बात, फ़ार्मा उद्योग और स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण व व्यापारीकरण है, जिसने फ़ार्मा कम्पनियों के मुनाफ़े की इस चूहा-दौड़ और अन्धी हवस में नित नये और भयंकर होते जन-स्वास्थ्य संकटों को जन्म दिया है, उस व्यवस्था पर प्रश्न उठायें, स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करें। एण्टीबायोटिक के नियन्त्रित इस्तेमाल हेतु फ़ार्मा कम्पनियों और निजी अस्पतालों पर नकेल कसते कड़े नियम बनाने के लिए सरकार पर दबाव डालें। मुफ़्त चिकित्सा और दवाएँ हर नागरिक का बुनियादी हक़ है और इसे सबको मुहैया कराती चिकित्सा व्यवस्था ही "सुपरबग" और "एण्टीबायोटिक रेजिस्टेंस" जैसे मुनाफ़ा-जनित जन-स्वास्थ्य संकटों और महामारियों से हमें निजात दिला सकती है।

अगर हम अब भी फासीवादी गुण्डई का मुकाबला करने सड़कों पर नहीं उतरे तो...

कोई नहीं बचेगा !

पिछली 17 जुलाई को झारखण्ड में जंगल बचाने के सवाल पर आदिवासियों को सम्बोधित करने पहुँचे 78 वर्षीय स्वामी अग्निवेश पर भाजपा के संगठन भाजयुमो के लम्पटों ने हमला कर दिया। संघ और भाजपा के गुण्डों ने इस बुजुर्ग आर्यसमाजी सन्त को सड़क पर नीचे गिराकर घसीटा और गन्दी गालियाँ देते हुए लात-घूँसों से बुरी तरह पीटा।

यह घटना भाजपा और संघियों के चाल-चरित्र-चेहरे को उजागर कर देती है। इस घटना पर हम चुप नहीं रह सकते क्योंकि अब चुप रहना मुर्दा रहने के समान होगा। पहलू खान, अख़लाक़, जुनैद और उना व भीमा कोरेगांव के बाद अग्निवेश पर यह हमला यह दिखाता है कि सिर्फ मुसलमान या दलित नहीं बल्कि हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद के इस दौर में हर वह शख़्स ख़तरे में है जो मोदी सरकार और संघ परिवार के आगे नतमस्तक न हो। यहाँ तक कि अग्निवेश जैसे लोग भी नहीं जिन्होंने 2014 में मोदी के समर्थन में बयान दिया था। हालाँकि उसके बाद उनका मोदी सरकार से मोहभंग हो गया और वे जगह-जगह उसके विरुद्ध चलने वाले आन्दोलनों के समर्थन में जाते और बोलते रहे हैं। आर्य समाजी और समाजसुधारक स्वामी अग्निवेश पिछले चार दशकों से बाल श्रम, बँधुआ मजदूरी, अन्धविश्वासों और शराबखोरी के खिलाफ़ अभियान चलाते रहे हैं। कोई स्वामी अग्निवेश के धर्मनिरपेक्षता या हिन्दू धर्म के अन्य विचारों से असहमति रखता हो तो भी उसे उन पर हमले का विरोध करना चाहिए! क्योंकि यह हमला केवल अग्निवेश पर नहीं है बल्कि यह संकेत है कि मोदी और संघ का विरोध करने वाले किसी भी व्यक्ति को छोड़ा नहीं जायेगा। स्वामी अग्निवेश पर इसलिए बर्बर हमला किया गया क्योंकि उन्होंने मोदी सरकार की नीतियों की आलोचना की। दरअसल संघ परिवार और भाजपा उन बलात्कारी संतों या मौलवियों का समर्थन करते हैं जो इनकी फासीवादी राजनीति का समर्थन करते हैं। आसाराम और उसके जैसे बलात्कारियों के लिए सड़कों पर उतरकर ये संघी और भाजपाई प्रदर्शन करते हैं। परन्तु हिन्दू सन्त स्वामी अग्निवेश पर इसलिए हमला किया जाता है क्योंकि अग्निवेश का हिन्दू धर्म, हिन्दू जीवन शैली और हिन्दू दर्शन का विचार संघ परिवार की हिन्दुत्व विचारधारा से मेल नहीं खाता है। उनपर इसलिए हमला किया जाता है कि उन्होंने फासीवादी संगठनों द्वारा फैलायी जा रही साम्प्रदायिकता और पोंगापंथ का विरोध किया, उन्होंने केंद्र सरकार और विभिन्न प्रदेश सरकारों की जनविरोधी नीतियों की आलोचना की, शराबबन्दी न करने पर योगी आदित्यनाथ की आलोचना की।

78 वर्षीय आर्यसमाजी सन्त पर हमले ने इनके इस झूठ को उजागर कर दिया है कि भाजपा और संघ परिवार हिन्दू धर्म और हिन्दुओं के संरक्षक हैं। अगर संघ परिवार और भाजपा का हिन्दू धर्म से लेना देना होता तो ये संघी स्वामी अग्निवेश पर हमला क्यों करते? अगर इनका हिन्दू आबादी से लेना देना होता तो क्या इस देश के 84 प्रतिशत हिन्दुओं की ज़िन्दगी की हालत में सुधार नहीं होता? क्यों इस देश की बहुतायत हिन्दू आबादी बेरोज़गारी, गरीबी और बदहाली में जी रही है? इनका गौरक्षा से भी कोई लेना देना नहीं है! अगर इनका मकसद गाय की सेवा होता गाय के नाम पर सड़कों पर लोगों की हत्या करने के बाद बजरंग दल और भाजपा के लोग क्यों बीफ़ सप्लाई करने वाली अल दुआ कंपनी के मालिक संगीत सोम को पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुख्य नेता बनाते? वे क्यों देश के सबसे बड़े बूचडखानों से चंदा लेते? आप खुद गूगल पर ढूंढ़ें तो पायेंगे कि बीफ़ का व्यापार करने वाली कम्पनियों से सबसे अधिक भाजपा ने चन्दा लिया है। अगर इनका गौरक्षा से लेना देना होता क्यों भाजपा मणिपुर, गोआ और केरल में गाय का मांस खाने का समर्थन करती? इनका लव जिहाद से भी वास्तव कोई लेना-देना नहीं वर्ना भाजपा और संघ परिवार के अनेक नेताओं और उनके बेटे बेटियों की शादी मुसलमानों से क्यों होती। इनका एकमात्र मकसद ऐसे नारे उछालकर साम्प्रदायिक राजनीति का प्रचार कर लोगों को बाँटना है और अम्बानी, अडानी, रामदेव जैसे पूँजीपतियों की सम्पत्ति में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि करनी है। इनका मकसद फासीवादी शासन को क़ायम करना है। संघियों का किसी भी धर्म से कोई लेना-देना नहीं है और न ही जनता से कुछ लेना-देना है! इनकी विचारधारा फासीवादी है जो लोगों को और धर्म को इस्तेमाल कर अपना उल्लू सीधा करती है।

पिछले 4 सालों में जो सवा दो करोड़ लोग बेरोजगार हुए हैं उनमें से कितने हिन्दू थे और कितने मुसलमान थे क्या इसका हिसाब किसी ने लगाया है? कितने सवर्ण थे और कितने दलित थे? क्या नौकरी से निकालते हुए किसी ने जातिधर्म पूछा था? नोटबन्दी में जिन 200 लोगों की मौत हुई उनमें से कितने हिन्दू थे और कितने मुसलमान थे? कितने सवर्ण थे और कितने दलित थे? क्या नोटबन्दी के कारण हुई मौतें जाति-धर्म पूछकर हुई थीं? जीएसटी लागू होने के बाद जितने उद्योग बर्बाद हुए और इसके कारण जितने लोग सड़कों पर चप्पल फटकारने को मजबूर हुए उनमें कितने हिन्दू थे? मोदी सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण जो देश में बर्बादी फैली है उसने हिन्दू मुसलमान के आधार पर फर्क नहीं किया है! पर जब वोट लेने की बारी आती है तो हमें हिन्दू मुसलमान में बाँट दिया जाता है। स्वामी अग्निवेश पर हमला कर संघियों ने अपने चाल-चरित्र-चेहरे को पूरी तरह नंगा कर दिया है। पर इनसे मौन बने रहकर मुकाबला नहीं किया जा सकता है। ये फासीवादी आतंकवादी संगठन व्हाट्सऐप द्वारा अफवाह फैलाकर केवल 8-10 की भीड़ में हमला करते हैं पर सोशल मीडिया के जरिये देश में इसे ऐसा प्रचार किया जा रहा है जैसे यह एक सामान्य घटना बन चुकी है। इस छोटी सी भीड़ द्वारा इन घटनाओं को इसीलिए अंजाम दिया जा रहा है क्योंकि लोग तमाशबीन बने रहकर भीड़ के हमले को खड़े देखते रहते हैं। परन्तु हम इस पराजयबोध को अस्वीकार करते हैं, हम इस बात को अस्वीकार करते हैं कि इस देश की पूरी जनता ही ऐसी है। हम इस देश की नौजवानी को, इस देश के मेहनतकश अवाम को और इस देश के इंसाफ़पसन्द नागरिकों को ललकारते हैं कि सड़क पर उतरकर इन फासीवादियों से मुकाबला करें क्योंकि अब हम नहीं उठे तो कोई भी नहीं बचेगा!

– नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन और क्रान्तिकारी मज़दूर मोर्चा की ओर से जारी पर्चा

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006